॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१४

सौन्दरनन्द : साहित्यिक एवं दार्शनिक गवेषणा

लेखक

डॉ० ब्रह्मचारी व्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन'

एम० ए० (संस्कृत), एम० ए० (पालि), एम० ए० (हिन्दी) लब्धस्वर्णपदक, पी-एच० डी०,

प्राध्यापक : हिन्दी-पालि विभाग

गया कालेज, मगध विश्वविद्यालय, गया (बिहार)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-1

१९७२

THE

CHOWKHAMBA RASHTRABHASHA SERIES

14

SAUNDARANANDA : SĀHITYIKA EVAṂ DĀRŚANIKA GAVEṢAṆĀ

(A Literary and Philosophical Study of the Saundarananda)

By

DR BRAHMACHĀRĪ BRAJAMOHAN PĀNDEYA 'NALINA'

M A (Sanskrit), M A (Pali), M A (Hindi),—all Gold Medalist, Ph D

Department of Hindi & Pali, Gaya College, Gaya
Magadh University

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1 (India)

1972

मातापित्रोर्गुरूणां यशसे

आमुख

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्य गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत् ।

—नैषधीयचरितम्

संस्कृत वाङ्मय में महाकवि अश्वघोष का विशिष्ट एवं सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण स्थान है जिनमें अपूर्व कला प्रज्ञा एवं दार्शनिक मनीषा का परम उदात्त एवं विरल समन्वय दृष्टिगत होता है। समाहित अन्तश्चेतना से कवि ने जिन दो महाकाव्यों (बुद्धचरित और सौन्दरनन्द) की रचना की है उनमें नैसर्गिक ऊर्जस्विता एवं अनवद्य सौन्दर्य विद्यमान है। अश्वघोष के महाकाव्य वस्तुतः रससिद्ध एवं रीतिमुक्त शास्त्रीय महाकाव्य हैं जिनमें काव्य-सौन्दर्य-निदर्शन की अपेक्षा विषय प्रतिपादन की ओर विशेष आवर्जन है।

सौन्दरनन्द में यद्यपि कवि का धर्म प्रचारक एवं दार्शनिक पक्ष प्रबल है तथापि इसमें महाकाव्यात्मक औदात्य एवं गरिमा अपने महत्तम रूप में अक्षुण्ण तथा काव्य वैभव से सम्पन्न है। कवि की यह मोक्षार्थ–गर्भाकृति लोकमांगलिक काव्य है जो उदात्त चरित्र सृष्टि, विशिष्ट रचना शिल्प तथा महदुद्देश्य एवं समुन्नत जीवन-दर्शन से अनुप्राणित है। सद्य न ग्राह्य होने वाले वरणीय जीवन दर्शन को काव्य के कमनीय कलेवर में उपनिबद्ध कर कवि ने अपने रसात्मक अन्तःकरण एवं काव्य-सृजन-सामर्थ्य की सर्वोपरिता सिद्ध की है। जीवन की सर्वाङ्गीणता के व्यापक अनुभव एवं विस्तृत ज्ञान से व्युत्पन्न होने पर भी कवि का यह काव्य विविधोन्मुखी एवं सर्वाङ्गीण जीवन का चित्रक नहीं हो सका है तथापि कवि लक्ष्य सिद्ध विषय प्रतिपादन में पूर्णतः अत्यवहित है।

इस महनीय काव्य में कवि ने मानव-जीवन के उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं आत्मनिष्ठ जीवन के गरिमापूर्ण समुन्नयन का शाश्वत उद्घोष किया है और यह सिद्ध किया है कि मानव-जीवन मात्र भवाब्धि-मज्जन का प्रतीक नहीं है अपितु पावक चैतन्य से परिपूर्ण निर्वाण के ज्योति-शिखर का धर्म धुरीण अधिष्ठाता है।

यह ग्रन्थ पटना विश्वविद्यालय की पालि एम० ए० परीक्षा के लिये प्रस्तुत अधिनिबन्ध का ईषत्परिवर्धित रूप है। इसके पाँच अध्यायों में मैंने साहित्यिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से विवेचन करने का प्रत्न प्रयास किया है, जिनमें जीवन-वृत्त और कर्तृत्व, काव्य-कथानक, भाव पक्ष एवं कलापक्ष, बौद्ध धर्म-दर्शन तथा चरित्र चित्रण प्रकृति-चित्रण एवं वस्तु-वर्णन आदि विषयों का सम्यक् अन्वाख्यान हुआ है। शास्त्र और सन्दर्भ के मध्य तारतम्य-स्थापन तथा बौद्ध-दर्शन एवं तदनुस्यूत धारणाओं के निष्कर्षानुशीलन में कहाँ तक प्रत्यग्रता एवं नवीनता है, इसका निर्णय पाठकों एवं प्रबुद्ध अध्येताओं के ऊपर निर्भर है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के उपनिबन्धन में विद्वद्वरण्य डॉ० सातकडि मुखोपाध्याय (भूतपूर्व निदेशक : नव-नालन्दा-महाविहार, नालन्दा) डॉ० नथमल टाटिया (निदेशक वैशाली-शोध-सस्थान, मुजफ्फरपुर) तथा गुरुवर्य डॉ० महेश तिवारी शास्त्री (रिसर्च प्रोफेसर नव-नालन्दा-महाविहार, नालन्दा) समवाय कारण रह हैं। इन विचक्षण विद्वानों एवं गुरुओं की अहैतुकी कृपा से मेरा हृदय सर्वदा सचेतित होता रहा है तथा बौद्ध-दर्शन की प्रत्यग्रता के अवबोध में आपेक्षित प्रेरणा एवं सहायता उपलब्ध होती रही है। सस्कृत वाङ्मय के अध्ययन काल में परमादरणीय गुरुदेव डॉ० बचन झा (अध्यक्ष एवं आचार्य सस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय) की सत्प्रेरणा मुझे अहरह पुरस्कृत करती रही है अत आस्तिक हृदय से उनका चिरऋणी हूँ। अपने आशुतोष गुरु डॉ० उदयनारायण तिवारी (अध्यक्ष एवं आचार्य : हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय) का मैं बहुत आभारी हूँ जिनका सर्वतोभद्र अनुग्रह अविस्मार्य है।

मुझे अपने कल्याण मित्रों तथा अन्य गुरुजनों से इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये प्रेरणा तथा उत्साह मिलते रहे हैं। आत्मप्रेष्ठ डॉ० रामकृष्ण प्रसाद मिश्र का मैं चिर कृतज्ञ हूँ जिनकी अशेष मैत्री-मुदिता से मैं उपकृत होता रहा हूँ। अहेतुक मित्र डॉ० राधाकृष्ण प्रसाद तथा अनन्य मित्र प्रो० राधामोहन तिवारी मेरे लिये प्रेरणा के स्रोत बने रहे हैं, अत वे धन्यवाद के

पात्र हैं। प्रतीति एवं प्रत्यय के प्रतिमान प्रो० अङ्गराज चौधरी मेरे लिये विशेष रूप से स्मार्य हैं, जिन्होंने नालन्दा-निवास के समय अनुक्षण उत्प्रेरित किया है। अपने पितृ-तुल्य अग्रज श्री मदनमोहन पाण्डेय का भी मैं आस्तिक अन्तःकरण से आभारी हूँ, जिनकी कृपा से ही मैं सारस्वत-साधना के शिखर तक पहुँच सका हूँ। श्री रामनरेश शर्मा एवं प्रियवर चन्द्रिकाप्रसाद को धन्यवाद देना मात्र औपचारिकता का ही निर्वहण है। श्रद्धा एवं शील की प्रतिमूर्त्ति श्रीमती सुशीला रानी भी मेरे लिये अविस्मरणीय हैं जिसकी स्नेह-सुलभसदाशयता मुझे सत्प्रेरित करती रही है।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के सचालक गुप्तबन्धुओं के प्रति मेरी अपार कृतज्ञता है जिन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर अध्येताओं की उत्सुकता दूर की है तथा मेरी पर्यालोचन क्षमता को पुरस्कृत होने का अवसर प्रदान किया है।

मैंने यथाशक्ति ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय और विवेचन में अन्विति बनाये रखने की चेष्टा की है। निष्पक्ष दृष्टिकोण के प्रति पूर्णतः अवहित होने पर भी कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं अतः सुधी पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ :—

> प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात्।
> मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ॥

अनन्तचतुर्दशी,
वि० सं० २०२९

— व्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन'

अनुक्रमणिका

सौन्दरनन्द
साहित्यिक एवं दार्शनिक गवेषणा

प्रथम अध्याय

जीवनवृत्त और कर्तृत्व : बहुमुखी व्यक्तित्व, आदान

अश्वघोष : जीवनवृत्त और कर्तृत्व

अतीत की धूमिल परम्परा ने महाकवि अश्वघोष की कीर्ति कौमुदी को तमसाच्छन्न कर दिया है। उनके जीवनवृत्त के निर्धारण के लिये कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है अतः उनके जन्मकाल का प्रमाणपुरस्सर निर्णय करना असम्भव तो नहीं, किन्तु कष्टसाध्य अवश्य है। यद्यपि अनेक मनीषियों और शोध विवेचकों ने अपने अपने विवेचन प्रस्तुत किए हैं फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यही हेतुपुरस्सर और प्रामाणिक है। जो कुछ भी निर्णय हो सका है वह बाह्य साक्ष्य पर ही आधृत है। अन्त साक्ष्य का कोई आधार उपलब्ध नहीं है। कवि तो काल और सीमा का नहीं होता वह तो युग युगान्त के लिये होता है। यही कारण है कि आत्म विज्ञापन के निरभिलाषी महाकवि अश्वघोष ने अपने को काल और युग के बंधन मे बँधने से बचाया।

अश्वघोष जैसे उदार कवि के लिये अपने लिये कुछ भी लिखना संभव नहीं था। एतदर्थ जीवन वृत्त के अन्वेषण मे हमे चीनी और तिब्बतीय उपकरणों का सहारा लेना पड़ता है बौद्ध साहित्य मे अश्वघोष का नाम भक्ति एवं श्रद्धा के साथ लिया जाता है और इसी अगाध भक्ति के कारण इनके नाम के साथ कई दन्तकथाएँ गढ़ ली गई हैं। इन्ही दन्तकथाओं ने अश्वघोष के जीवनवृत्त के निर्धारण में गत्यवरोध उत्पन्न कर दिया है। फिर भी यूरोपीय मीमांसकों ने पैनी दृष्टि से इसकी सच्ची परख कर अपने-अपने मतों की संस्थापना की है।

अश्वघोष किस काल मे जन्मे कहाँ पढ़े और शैशव का उच्छल जीवन कहाँ बिताये ? ये सभी बातें अभी तक विवाद की वस्तु बनी हैं। कोई प्रामाणिक परिचिति नहीं मिलती है। किसी न शायद इनकी जीवनी लिखी भी थी पर वह अज्ञातनाम है। इसीका अनुवाद कुमारजीव ने लगभग ४०१ ई० मे किया था, जिसके आंशिक उद्धरण क अनुवाद जर्मन भाषा मे उपलब्ध है।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि मौलिक मेधा के मेधावी चिंतक और सार्वभौम प्रतिष्ठा के दार्शनिक कवि अश्वघोष का काल अद्यावधि निर्विवाद रूप से निश्चित नहीं है। सभी परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं कि ये कनिष्क

के समकालीन थे (करीब १०० ई०) और ये महायान के धर्मनेता तथा उसके संस्थापक थे। डॉक्टर कीथ इत्यादि विद्वानों ने भी यही मत स्वीकार किया है[१]।

एक किंवदन्ती है कि कनिष्क ने अपनी विजयेच्छा से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया, फलतः कनिष्क विजयी हुआ और पराजित मगधनरेश को दो उत्तमोत्तम शर्तों पर मुक्त करने को कहा। पहली शर्त थी—तथागत के भिक्षा-पात्र का समर्पण तथा दूसरी शर्त थी—प्रातिभचक्षु-कवि अश्वघोष का पटने में निवास।

कई विद्वान्, कनिष्क द्वारा बुलाई गयी चतुर्थ संगीति की अध्यक्षता का पुण्यगौरव अश्वघोष को ही प्रदान करते हैं। किन्तु अभी तक यह पूर्णतः निश्चित नहीं है कि इसके अध्यक्ष पार्श्व हुए थे या दार्शनिक कवि अश्वघोष। कनिष्क के साथ अश्वघोष का नाम विद्वानों ने जोड़ा तो अवश्य है लेकिन अद्यावधि भी कनिष्क के समय को वे निश्चित नहीं कर पाये हैं।

महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णुदेव मिराशी ने अश्वघोष का काल ईस्वी प्रथम शताब्दी मानते हुए लिखा है—"अश्वघोष कवि सुप्रसिद्ध कुशानवंशीय सम्राट कनिष्क का समकालीन था"। कई भारतीय और यूरोपीय विद्वानों के मतानुसार वर्तमान काल मे प्रचलित शालिवाहन सवत् का प्रारम्भ कनिष्क ने किया था। यह सवत् ई० सं० ७८ मे शुरू हुआ था। अतः हमने अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना है[२]।

पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों ने अश्वघोष का जीवन-काल ईसा के सौ वर्ष पूर्व से सौ वर्ष पश्चात् के समय को माना है। यही काल लोगों को अधिक मान्य और निर्विवाद है। डा० एच० पी० शास्त्री ने अश्वघोष का काल प्रथम शताब्दी के अन्त काल को माना है[३]। प्रो० बलदेव उपाध्याय ने प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध का (१–५० ई०) भाग माना है[४]। लेकिन यूरोपीय विद्वान् डॉ० जान्स्टन ने खृष्टीय प्रथम शती के प्रारंभ भाग को ही महत्त्व दिया है।

अश्वघोष को वसुमित्र का भी समकालीन बताया जाता है जिसकी अध्यक्षता मे कश्मीर में सर्वास्तिवाद की एक संगीति बुलायी गयी थी।

---

१ हिस्ट्री ऑफ द संस्कृत लिटरेचर।
२. कालिदास-पृ० ११ का पाद-टिप्पण।
३. सौन्दरनन्द की भूमिका।
४ संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १७१।

अश्वघोष और कालिदास मे से कौन पूर्ववर्ती और कौन परवर्ती है, इसका निर्णय करना भी टेढी खीर है। जब ई० स० १८९३ मे बुद्धचरित और १९१० मे सौन्दरनन्द प्रकाश मे आया तो समीक्षको ने इन काव्यो मे और कालिदासीय काव्यों मे परिलक्षित होने वाली समता की ओर ध्यान दिया। परिणामतः इससे दो धाराएं निकल पडी। पहली धारणा के विवेचको ने यह निर्णय किया कि कालिदास अश्वघोष के परवर्ती हैं और उन्होने अपनी कोमल कल्पनाए अश्वघोष से ग्रहण की हैं। इसके पोषको मे प्रो० कॉवेल का नाम विशेष उल्लेख्य है। दूसरी धारणा के पोषको (शारदारंजन राय तथा के० सी० चट्टोपाध्याय) ने यह सिद्ध किया है कि अश्वघोष ही कालिदास के परवर्ती हैं और अश्वघोष ने ही कालिदास के काव्यो की अनुकृति की है।

प्रोफेसर चट्टोपाध्याय ने "द डेट आफ कालिदास" मे लिखा है कि जब कोई दार्शनिक काव्य की रचना करता है तब उसे दूसरो के काव्यो का अनुकरण करना पडता है। किन्तु यह वैचारिक तथ्य औचित्यपूर्ण नही है क्योकि बुद्धचरित और सौन्दरनन्द अनुकृति करनेवाले किसी कवि की कृति नही हैं वरन् उस मौलिक मेधा की उपज हैं जिसमे प्रतिभा की प्राणवल्लरी पूर्णत. विकसित रहती है। प्रो० चट्टोपाध्याय ने अपने मत की सस्थापना अश्वघोष और कालिदास के काव्य मे पायी जानेवाली विलक्षण समानताओ के आधार पर की है। लेकिन जो कई समानताए कालिदास और अश्वघोष के काव्य मे मिलती हैं, उनमे से बहुतो को समानता का नाम भी नही दिया जा सकता है और कालिदास के नब्बे प्रतिशत वाक्याश प्रयोग जो प्रो० चट्टोपाध्याय को अश्वघोष की रचनाओ में मिले हैं, सस्कृत कवियो के द्वारा सामान्यतया व्यवहृत होते हैं। वास्तव मे वे सस्कृत साहित्य के ऐसे धन हैं जिनपर सबका समान अधिकार है। यदि अपनाने की बात प्रमाणित भी हो जाय तो यह प्रमाणित करने को शेष रह जाता है कि किसने किसका अपनाया[1]।

कई आलोचको का कहना है कि अश्वघोष के काव्य मे काफी पुनरुक्तियाँ मिलती हैं जिससे यह मालूम पडता है कि उनके काव्य की लेखनी प्रौढ कवि की नहीं है, किन्तु यह कहना अक्षरश निर्भ्रान्त नही है क्योकि कालिदास तक की कविताओ मे भी काफी पुनरुक्तियाँ मिलती हैं[2]।

---

१. कालिदास का भारत, २०३।

२ कुमारसभव के बहुत से श्लोको की पुनरुक्ति रघुवंश के सप्तमसर्ग के श्लोकों मे मिलती है।

इससे यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि कालिदास कवि गुरु की पदवी नहीं पा सकते। अश्वघोष और कालिदास के काव्यों में दो प्रकार की समानताएँ मिलती हैं। पहली प्रासंगिक और दूसरी शब्दार्थोक्तिमूलक। इस प्रकार की कुछ समानता अश्वघोष के सौन्दरनन्द और कुमारसंभव एवं रघुवंश मे मिलती है। सौन्दरनन्द के छठे सर्ग में जो सुन्दरी का विलाप है उसकी समानता कुमारसंभव के रति-विलाप से है, जो शिव के तृतीय नेत्र से मदन के निधनोपरान्त हुआ था। नन्द का विलाप (सप्तम सर्ग) भी रघुवंश में अजविलाप के सदृश ही मालूम पडता है। इस प्रकार अन्य समानताएँ भी अश्वघोष और कालिदास के काव्यों मे हैं। बुद्धचरित के तृतीय सर्ग में वर्णित तरुणकुमार बुद्ध जब नगर से बाहर आये तो उन्हें देखने के लिये नागरिकाओं की भीड लग गई। इसकी समानता कुमारसंभव के सप्तम सर्ग से है जिसमे शिव के ओषधिप्रस्थ नामक नगर मे आने पर देखने के लिये ललनाओं की भीड़ जम गई थी, तथा रघुवंश के सप्तम सर्ग से है जिसमे इन्दुमती के स्वयंवर के बाद अज के कुण्डिनपुर पहुँचने पर उन्हें देखने के लिये स्त्रियों की अपार भीड एकत्र हो गई थी।

लेकिन ये समानताएँ ऐसी हैं जिनका प्रयोग जीवन मे नित्यश होता रहता है। प्रातिभ-चक्षु कवि की कल्पनाएँ इन वस्तुओं को सामान्यतः अनायास ही पकड लेती हैं। इन दोनों कवियों मे केवल काल्पनिक सदृशता उपलक्षित होती है। कोई विशेष साम्य नहीं है। कल्पना साम्य का एकाध उदाहरण देखा जा सकता है :—

अश्वघोष—

> वातायनेभ्यस्तु विनि सृतानि परस्परोपासितकुण्डलानि।
> स्त्रीणां विरेजुर्मुखपंकजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पंकजानि॥[1]

कालिदास—

> तासां मुखैरासवगन्धगर्भै व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानां।
> विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥[2]

इन दोनों पद्यो मे गवाक्षों से उत्सुक हो झाँकनेवाली नायिकाओं के मुख को कमल की उपमा दोनों कवियों ने दी है। अश्वघोष की कल्पना में उतना चमत्कार नहीं है जितना कालिदास मे। अश्वघोष में खुरदरापन है जब कि कालिदास मे स्निग्धता। ऊपर का पद्य कालिदास की कल्पना को अत्यधिक सौष्ठव प्राण बनाने के लिये पृष्ठभूमि सा है और ऐसी प्रतीति होती है कि

---

१. बुद्धचरित ३। १९। २ रघुवंश ७। ११।

कालिदास की नूतन कल्पना बाद की है और इससे अश्वघोष की पूर्ववर्तिता ही सिद्ध होती है।

इन्ही समानताओ की तरह कवि की कुछ और कल्पनाएँ हैं, जो कुछ स्थलों पर मिलती जुलती सी हैं। लेकिन इन समानताओं के लिये कवि पर दोषारोपण नही किया जा सकता है, क्योकि अनूठी अनूठी कल्पनाओ का वरदान सरस्वती से किसी एक को ही नहीं मिल जाता वह तो सब के लिये है जिसका प्रयोग कवि काल और सीमा से परे होकर करता है। एक अन्यतम समानता देखिये —

अश्वघोष—

त गौरव बुद्धगत चकर्ष भार्यानुराग पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरस्तरङ्गेष्विव राजहस ॥[1]

कालिदास —

त वीक्ष्य वेपथुमती सरसागयष्टि निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धु शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥[2]

इसमे कालिदास से अश्वघोष की ही उपमा अधिक प्राणवन्त और स्पृहणीय है साथ ही औचित्यपूर्ण भी। इन्ही पद्यो के आधार पर श्री एच० पी० शास्त्री ने कहा है कि यदि कालिदास की प्रसिद्धि उपमा पर ही आधृत है तो अश्वघोष उसे पार कर जाते हैं।[3]

इन उद्धरणो मे आश्चर्यजनक समानताएँ हैं। देखने से ऐसी प्रतीति होती है कि किसी ने एक की रचना का अवलोकन अवश्य किया होगा। लेकिन मुझमे यह कहने का दुस्साहस नही कि किसने किसकी रचना का अवलोकन किया। फिर भी मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि अश्वघोष की अपेक्षा कालिदास की कविता काव्यकला की दृष्टि से अधिक पूर्ण और सौन्दर्य वलित है। अनुकृति की बात बडी प्यारी है। अगर कोई यह कहे कि कालिदास ने अश्वघोष की कल्पना का अपहरण कर उस पर स्वीय मौलिक प्रतिभा की मुहर लगाकर अधिक प्राणवन्त बना दिया है तो दूसरा आलोचक भी यह कह सकता है कि कालिदास की अपेक्षा अश्वघोष के काव्यो मे ही कृत्रिमता अधिक प्राप्त होती है। संस्कृत साहित्य के आलोचनाक्षेत्र में यह मान्यता सिद्धप्राय है कि जिसमे जितनी कृत्रिमता होगी वह उतना ही अत्याधुनिक होगा। इसे मान लेने पर यह सिद्ध होगा कि अश्वघोष कालिदास के पीछे

---

१ सौन्दरनन्द, ४। ४२। २ कुमारसभव, ५। २५।
३. सौन्दरनन्द की भूमिका।

हुए, किन्तु अश्वघोष के काव्यों में जो लालित्य का अभाव है उसका कारण कवि ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है। *उन्होंने स्वयं लिखा है कि मेरी काव्य-रचना का उद्देश्य जनजीवन में बौद्धदेशनाओं को मनोरंजक भाषा में* आप्रसरित करना है। अश्वघोष के काव्यों में और भी जो आर्ष प्रयोग मिलते हैं उसका कालिदास के काव्यों में बिलकुल अभाव है। इस तरह इन विचारों के सम्यक् परीक्षण के बाद हम अश्वघोष की प्राग्भाविता का समर्थन करते हैं।

हिन्दी की छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा ने लिखा है—"भाषा की *दृष्टि से अश्वघोष कालिदास के पूर्वगामी कहे जायेंगे, क्योंकि उनकी भाषा में* आर्ष प्रयोगों की स्थिति के अतिरिक्त उस प्रांजल प्रवाह का अभाव है, जो कालिदास की भाषा की विशेषता है। अश्वघोष की शब्दावली की कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे प्रयुक्त शब्दावली से निकटता यह सिद्ध करती है कि उनमें समय का अधिक अन्तर न रहा होगा"।[१]

आचार्य द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने भी लिखा है कि अश्वघोष ईस्वी प्रथम शताब्दी में थे और कनिष्क के धर्मगुरु और राजकवि थे।[२]

सर्वास्ति परम्परा के अनुसार जिसका उल्लेख चीनी रचना (Li-tai-Sanpaochi (Fas) में मिलता है, अश्वघोष को महायान सूत्रालङ्कार का रचयिता बतलाता है, जो बुद्ध के निर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् हुए थे। Hui-Yuen ने महाप्रज्ञापारमिता का समय निर्वाण के ३७० वर्ष बाद माना है। 'द लाइफ आव वसुबन्धु' ने अश्वघोष को कात्यायन (ज्ञानप्रस्थानशास्त्र का रचयिता) का समकालीन माना है। चीनी यात्री ह्वेनसाग के अनुसार अश्वघोष नागार्जुन आर्यदेव और कुमारलब्ध, उस काल के ज्योतिष्पुञ्ज दीप्ति के *आलोकमान सूर्य थे, जिन्होंने अनुरंजित प्रभा की ज्ञानमयी किरणों से* चारों दिशाओं में ज्ञान की आभा विकीर्ण कर दी थी।[३] अश्वघोष का निवास पूर्व में, आर्यदेव का दक्षिण में, नागार्जुन का पश्चिम में और कुमारजीव का उत्तर में हुआ था।[४] महाप्रज्ञापारमिता का चीनी अनुवादक Saug-ying ने अश्वघोष का समय निर्वाण के ५०० वर्ष बाद माना है।[५] कीथ का भी यही विचार है कि वह प्रज्ञापारमिता से परिचित थे।[६]

---

१ सप्तपर्णा, पृ० ४०। २. संस्कृतसाहित्य-विमर्शः।

३. Beal, Buddhist Record of the Western World—113a2 ff. cf.

४. The life of Hiun Tsang, P. 199.

५. J. R. A. S 1914, P. 1092.

६. History of Sanskrit Literature.

अश्वघोष नागार्जुन से प्राग्भावी थे क्योंकि ह्वेनसाग ने भी चार प्रकाश मान पुरुषों के क्रम मे नागार्जुन का दूसरा नाम दिया है। नागार्जुन की परिज्ञप्ति हमे जगदयपेटस्तूप से मिलती है जो उसके अन्तेवासी के द्वारा उत्कीर्णित है। विद्वानो ने इस स्तूप के उत्कीर्णित आलेखन की तिथि क्रैस्त की तीसरी शती मानी है और अश्वघोष सम्भवत नागार्जुन से दो सरणि पूर्व हुए होगे, ऐसी अनुमिति है। इस तरह अश्वघोष का समय प्रथम शती सम्भाव्य और निश्चित है।

अशोक और कनिष्क बौद्धधर्म के महान् धर्मप्रवर्धक सचेता थे। अश्वघोष रचित बुद्ध चरित के २८ वें सर्ग में अशोकाहूत सगीति की वर्णना मिलती है। अत हम इस आधार पर यह निश्चित कर पाते हैं कि अश्वघोष अशोक के पश्चात् एव कनिष्क के समकालीन थे।

चीनी यात्री इत्सिंग (जो ६९५ मे भारत आया था) विद्वान् भिक्षुओ का वर्णन करता है और उसमे अश्वघोष, नागार्जुन और देव आदि को समसामयिक बताता है। उसने यह भी लिखा है कि अश्वघोष रचित बुद्धचरित भारत के पाचो भागो मे और दक्षिण सागर के सुमात्रा, जावा और आईसलैण्ड के पडोसी देशो मे पढाया जाता था। इससे यह पता चलता है कि इत्सिग के बहुत पहले ही अश्वघोष की कृतिया प्रतिष्ठित और समादृत हो चुकी थी। अत क्रैस्त की प्रथम शताब्दी में इनका जन्म मानना असगत न होगा।

यूरोपीय मनीषी ऐमुएल बील ने भी अश्वघोष को नागार्जुन का समकालीन माना है और जिसे सामान्यतः बुद्ध के ४०० वर्ष बाद माना जाता है। अत यदि इन्हे इस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी मे रखा जाय तो वस्तुत यह भ्रांत न होगा। अश्वघोष का समय वस्तुत विवाद की वस्तु रहा है। काल निर्धारण मे मतैक्य नही है। जहाँ तक मेरी विचार सरणि उद्बुद्ध है मैं अश्वघोष का काल प्रियदर्शी अशोक के पश्चात् और कनिष्क के समकालीन मानता हूँ, क्योंकि बौद्ध धर्म के इतिहास मे अशोक के बाद कनिष्क ही सबसे बडा धर्म प्रवर्त्तक रहा है और सभी परम्पराएँ भी यही मानती हैं। अत अशोक के दूरवर्ती और कनिष्क के समकालवर्ती समय को हम अश्वघोष का काल निर्धारित करते हैं।

कवि की कल्पनाएँ रंगीन और प्रभापूर्ण हुआ करती हैं। किसी एक विषय के प्रतिपादन के लिये एव सूक्ष्म समीक्षण के लिये वह कई उपादानो को ग्रहण करता है। अश्वघोष का हृदय एक ओर काव्य की ज्योत्स्ना से तरलित था

तो दूसरी ओर दर्शन की उदात्त भावनाओं से भूषित भी। यही कारण है कि उन्होंने दर्शन के गहन भावों का प्रकाशन काव्य के माध्यम से किया है। यों तो कवि के नाम की तीन ही रचनाएं निर्विवाद रूप से प्रसिद्ध हैं, लेकिन परम्पराएँ उनके नाम की और अन्य पुस्तकों का भी उल्लेख करती हैं। प्रातिभचक्षु मनीषियों के समादर में मानवी प्रवृत्ति अनेक किंवदन्तियों को जोड़ा करती है और इससे प्रकाश की पूर्णिमा पर अन्धकार का अमावस दृढीभूत हो जाता है। *सत्य की बातें तमोमय जगत् में लीन हो जाती हैं। महाकवि कालिदास पर भी इस प्रवृति की अन्यतम कृपा हुई है और इस कारण उनके जन्मकाल* इत्यादि के निर्धारण में आकाश के तारे तोड़ने पड़े हैं। अश्वघोष भी इस प्रवृत्ति में बच नहीं पाये। प्रौढ दार्शनिक अश्वघोष के नाम से कई दार्शनिक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। अतः यह निर्णय करना कि अश्वघोष रचित वस्तुतः कौन-कौन सी पुस्तकें हैं, कठिन है।

कई परम्पराएँ और विद्वान् निम्नलिखित पुस्तकों को अश्वघोष रचित बताते हैं लेकिन इसके सत्यापन में वे कहाँ तक प्रमाण हैं—कहा नहीं जा सकता। डा० एफ० डब्लू थामस ने निम्नलिखित पुस्तकों को अश्वघोष विरचित बताया है—

(१) बुद्धचरित काव्य
(२) शारिपुत्रप्रकरण (प्रो० ल्यूडर्स द्वारा प्रकाशित)
(३) सौन्दरनन्दकाव्य (डा० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित)
(४) गण्डी स्तोत्र
(५) वज्रसूची (डा० वेबर द्वारा सम्पादित)

१—बुद्धचरित

बुद्धचरित तप पूत भगवान् बुद्ध के महार्घ जीवन को आकलित करता है। यह काव्य अठारह सर्गों में उपनिबद्ध था, लेकिन खेद की बात है कि आज इसके १४ सर्ग ही प्राप्त हैं। धर्मक्षेम नामक भारतीय विद्वान के चीनी अनुवाद में तथा सम्भवत सातवीं शताब्दी में अनूदित तिब्बती अनुवाद में इसके २८ सर्ग मिलते हैं। चीनी धर्मयात्री इत्सिंग ने इसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में बताया है। इस महाकाव्य का प्रारम्भ बुद्ध के गर्भाधान से होता है, तथा अन्त अशोक की वर्णना से। इसके प्रथम पाँच सर्गों तक जन्म से लेकर महाभिनिष्क्रमण तक की कथा मिलती है। इसमें कवि ने अन्तःपुर विहार, संवेगोत्पत्ति, स्त्रीनिवारण, महाभिनिष्क्रमण, छन्दक का प्रत्यावर्तन, तपोवन प्रवेश, अन्तःपुर विलाप, कुमार के अन्वेषण का प्रयत्न, गौतम का मगध गमन, कामनिन्दा, शान्तिप्राप्ति के

लिए महर्षि अराड के समीपागमन, मार पराजय, तथा बुद्धत्व प्राप्ति का वर्णन किया है। प्रक्षिप्त अंश का अनुवाद जो डा० जान्स्टन के अनुवाद से प्राप्त होता है उसमे शिष्यो को उपदेश, निर्वाण के सिद्धान्तो का विवेचन तथा अशोक के संघ एवं उसकी धार्मिक व्यवस्था की वर्णना है। बुद्धचरित यद्यपि कवि के काव्य-कौशल का अन्यतम परिचायक है लेकिन इसमे धार्मिक दार्शनिकता का इतना गाढ़ विश्लेषण हो गया है जिससे काव्यश्री के सौन्दर्य का प्रस्फुरन मुकुलभाव मे रह गया है। यह धार्मिक नीतिवादी के रूप में परिलक्षित होता है[1]। फिर भी यह अश्वघोष की कीर्ति को अक्षुण्ण रखनेवाला आद्यग्रन्थ है।

२—शारिपुत्रप्रकरण

यह कवि की नाट्यकृति है जिसमें शारिपुत्र को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने के वृत्तान्त को नाटकीय रूप में उपनिबद्ध किया गया है। इसकी खण्डित प्रति प्रो० लूडर्स को तुर्फान मे तालपत्रो पर अंकित मिली थी। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता नाट्यशास्त्र के अनुमोदन में है। यह प्रकरण नाटक है, साथ ही इसमें नौ अङ्क भी समजित है, जो नाट्यशास्त्र के नियमो के अनुकूल हैं। इस प्रकरण में मध्यमवर्ग के समाज का सच्चा वर्णन है। इसके चित्रण से मृच्छकटिक की निकट समानता का प्रत्यायन होता है। एक दूसरा नाटक गणिका रूपक है। इसमें वेश्या, विदूषक, दास, दासी इत्यादि पात्रो का चित्रण है। डा० कीथ इन दोनो नाटकों को अश्वघोष विरचित बताते हैं लेकिन डा० जान्स्टन इनका रचयिता दूसरे को मानते हैं। इन नाटको में प्रयुक्त प्राकृत साहित्यिक प्राकृत से पुरातन है। शारिपुत्रप्रकरण का कवि की अन्य पुस्तको के भावो, विचारो या शब्दावलियो से घनिष्ठतम साम्य है। शारिपुत्रप्रकरण की शैली सौन्दरनन्द और बुद्धचरित की शैली से काफी अभिसम्बद्ध है। उदाहरण के लिये—बुद्धचरित ११।११,१२ का भाव साम्य सौन्दरनन्द के ११२७–३२ आदि पद्यो के साथ स्फुटतया लक्षित होता है। सौन्दरनन्द के एक पद्य का भाव-साम्य गणिका रूपक के पद्य के साथ मिलता है—

> युगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजश्च मेघवत्।
> तप्तकनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घन ॥
>
> सौ० ३।२४।

× × ×

वे वर्षत्यम्बुधारं ज्वलति च युगपत् सन्ध्याम्बुद इव। गणिका रूपक।

---

१. संस्कृत कवि दर्शन (डा० भोलाशंकर व्यास)।

इन तीनों ग्रन्थों के रचना ऐक्य के अन्त परीक्षण मे यह प्रमाणित होता है कि यह एक ही कलाकार की रचनाएँ हैं।

वज्रसूची

वज्रसूची (जिसमे जातिप्रथा का निराकरण है) अश्वघोष के नाम से उल्लिखित है। लेकिन चीनी पुस्तकों के अनुवादों मे यह फाहियान के नाम से उल्लिखित है। चीनी परम्परा इसे अश्वघोष की रचना नहीं स्वीकारती। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध काल (९१७ से ९८१ ए० डी०) मे जो चीनी अनुवाद हुआ था —पूर्णरूप से इसे धर्मकीर्ति की रचना मानता है। सातवीं शताब्दी में आये चीनी यात्री तथा वस्तनह्युगर ने भी इसका अश्वघोष की रचनाओं में उल्लेख नहीं किया है। डा० कीथ वज्रसूची के बारे मे कोई अपना मत निर्धारित नही करते जान पड़ते हैं। वज्रसूची मे ब्राह्मणों की जाति व्यवस्था पर तीक्ष्ण एवं भीषण प्रहार किया गया है, साथ ही ब्राह्मणधर्म के द्वारा समर्थित वर्णव्यवस्था की इसमे कटु आलोचना भी की गई है। सचमुच यदि हम अश्वघोष को ब्राह्मण मानते हैं तब यह पुस्तक उनकी लिखी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कोई ब्राह्मण स्वयं अपने पैरों मे कुल्हाडी नही मार सकता। अश्वघोष के अन्य (सौन्दरनन्द) काव्यों मे ब्राह्मणधर्म के प्रति हम आदर भाव पाते हैं। अत यह सिद्ध है कि यह अश्वघोष की रचना नहीं ही है।

गण्डीस्तोत्रगाथा

इस ग्रन्थ से कवि की संगीत-शक्ति का परिचय मिलता है। यह स्तोत्र काव्य २९ लम्बे लम्बे सग्धरा छन्दो में निबद्ध है जो बौद्ध मठों में और बुद्ध की स्तुति मे प्रयुक्त होता था। डा० कीथ इसे अश्वघोष विरचित मानते हैं। उन्होंने लिखा भी है —"गण्डीस्तोत्रगाथा उनके-गीतों के, जो उनकी प्रसिद्धि के कारण थे—महान छन्दोनैपुण्य को प्रदर्शित करती है और साथ ही उनके संगीत के प्रभावविषयक ज्ञान को प्रमाणित करती है"। उक्त रचना मे छन्दो द्वारा उस धार्मिक सन्देश के वर्णन का प्रयत्न किया गया है, जो काष्ठ की एक लम्बी पट्टी को एक छोटे से मुद्गर से पीटने की ध्वनियों द्वारा लोगों के हृदय तक पहुँचाया जाता था। एफ० डब्लु० थॉमस का कथन है कि यह ए० वोन स्टेल होल्सटन के द्वारा सम्पादित है। यह साहित्य की परिष्कृत रचना है और इसकी आलोचना रूसी भाषा में भी मिलती है। चीनी त्रिपिटक की नर्नाजओं में इसे "घण्टिका स्तोत्र' कहा गया है। तिब्बती तंजुर में यह अनुवाद के रूप में

सुरक्षित है। विन्टरनित्ज के अनुसार यह चीनी भाषा के आधार पर मौलिक संस्कृत मे आलेखित है। विषय और वस्तु दोनो मे यह रचना कथात्मक है। प्रो० बलदेव उपाध्याय इसे अश्वघोष की रचना नहीं मानते। इस ग्रन्थ के बीसवें पद्य से यह पता चलता है कि इसकी रचना सम्भवत कश्मीर मे उस समय हुई होगी जिस समय वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था कोलाहलपूर्ण होगी। संगीतात्मक भावो से युक्त होने के कारण मेरी राय मे यह अश्वघोष की ही रचना मालूम पडती है, क्योंकि उनके काव्यो मे हम संगीतात्मक औचित्य का समुचित निर्वाह पाते हैं।

सूत्रालंकार

सूत्रालंकार[1] को अश्वघोष की कृति मानने मे काफी विवाद है। कोई इसे अश्वघोष की रचना मानते हैं, तो कोई किसी दूसरे की। इसका चीनी अनुवाद कुमारजीव ने ४०५ ई० मे किया था। वह इसे अश्वघोष की रचना मानता है। प्रो० ल्यूडर्स इसे मध्यएशिया में प्राप्त, इसकी मूल संस्कृत के कई खण्डो के आधार पर, कुमारलात की रचना मानते हैं और बताते हैं कि यह अश्वघोष का समकालीन था। यह नैतिक कहानियो और गाथाओ का संग्रह है, जो *अवदान* तथा जातक की शैली पर अलकृत काव्य रूप से निर्मित है, जिसमे गद्य और पद्य का सुन्दर समन्वय है। इसकी कुछ कहानियाँ प्राचीन हैं और कुछ अर्वाचीन। इसकी कहानियो मे बुद्ध प्रचार की भावना प्रतिलक्षित होती है। साथ ही इसमे सांख्य वैशेषिक, जैनसिद्धान्त एव मनु सिद्धान्तो का सुन्दर *समीकरण है। युवान च्वाग के अनुसार तक्षशिला के निवासी कुमारलात* सौत्रान्तिक के प्रतिष्ठापक थे जिसकी उत्पत्ति सर्वास्तिवाद मे मानी जाती है[2]। यदि हम कुमारलात के शिष्य हरिवर्मन् को वसुबन्धु का समकालीन मान लें तो कुमारलात अश्वघोष के समकालीन नही हो सकते और उन्हे तीसरी शताब्दी के पूर्व कदापि नही माना जा सकता[3]। फलत मैं इसे अश्वघोष की *ही रचना मानता हूँ, क्योंकि इसमे सभी धर्मों के समन्वय की परिचिति* मिलती है और अश्वघोष इस कला के निष्णात कवि हैं। चीनी यात्री इत्सिग ने

---

१. Translated into French on the Chinese Version of Kumarjib, by Ed. Huber, Paris, 1908.

२. *History of Sanskrit Literature* by S. N. Dasgupta, P. 72.

३. Foot Note of the History of Sanskrit Literature by S. N Das Gupta P. 73.

भी इसे अश्वघोष की रचना माना है[१] तथा एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में भी इसका उल्लेख अश्वघोष के ही नाम है[२]।

महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र

यह पुस्तक हीनयानी बौद्धधर्मावलम्बियों की दार्शनिक अज्ञता को दृष्टि में रख कर परमार्थसत्य को विशद रूप से व्यक्त करने के लिये लिखी गयी है। इस पुस्तक का अनुवाद प्रो० सुजुकी ने चीनी अनुवाद से अंग्रेजी में किया है और इसका रचयिता अश्वघोष को ही माना है। लेकिन विद्वानों का एक दल इसे अश्वघोष की रचना नहीं मानता। इसमें विज्ञानवाद और माध्यमिक के सिद्धान्तों का समन्वय है। शून्यवादी विचारधारा का सूक्ष्म संकेत हमें इसी में प्राप्त होता है अतएव प्रो० बलदेव उपाध्याय ने जो लिखा है कि श्रद्धोत्पाद-शास्त्र हीनयानी अश्वघोष के मत्थे कभी नहीं मढ़ा जा सकता—उनकी सरासर भूल है अश्वघोष हीनयानी न होकर महायान सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे साथ ही शून्यवाद का भी संकेत हमे इस पुस्तक में मिलता है, जिसका विकास नागार्जुन के शून्यविवर्तवादी माध्यमिक शाखा में हुआ है।

सौन्दरनन्द

सौन्दरनन्द अश्वघोष की प्रौढ़ एवं प्रामाणिक रचना है, इसमें कोई विचिकित्सा नहीं। सौन्दरनन्द की पुष्पिका में– 'आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यस्य भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्'—लिखा है। यही वाक्य बुद्धचरित के तिब्बती अनुवाद में भी यथावत् उद्धृत है। इससे प्रमाणित होता है कि सौन्दरनन्द महाकवि अश्वघोष की प्रामाणिक रचना है।

सौन्दरनन्द और बुद्धचरित दोनों एक दूसरे के पूरक मालूम पड़ते हैं। बुद्धचरित मे भगवान् बुद्ध के जीवन का सांगोपांग विवेचन है, किन्तु सौन्दर-नन्द मे उसका स्वल्प स्पर्श मात्र है। कपिलवस्तु राज्य की स्थापना का विशद वर्णन सौन्दरनन्द में किया गया है, किन्तु बुद्धचरित में यह बहुत संक्षिप्त है। बुद्धचरित मे नन्द का स्वल्प वर्णन है, लेकिन सौन्दरनन्द में तो उसके जीवन की सम्पूर्ण लेखाओं का भव्य आरम्भ ही कवि ने कर दिया है।

दोनों पुस्तकों में वैदिक और पौराणिक वृत्तान्तों का उल्लेख हुआ है। काली के प्रति पराशर की आसक्ति का उल्लेख बुद्धचरित ४-७६ म और सौन्दरनन्द ७-२९ में है। वसिष्ठ की आसक्ति का उल्लेख बुद्धचरित ४–७७ में

---

१. Vidi C. M. Dutt's Chronology of India. Page. 21–22

२. Vidi J. P. A. S. of Bengal Vol. I. H. 6 June, 1909, P. I. ft

और सौन्दरनन्द ७-२८ में है। पाण्डु की आसक्ति का उल्लेख बुद्धचरित ४-७९ में और सौन्दरनन्द मे ७-४५ मे है। इसी प्रकार गौतम, विश्वामित्र, ऋष्यशृंग आदि का उल्लेख दोनो काव्यो मे है। ब्राह्मणधर्म का प्रौढ ज्ञान उनके दोनो काव्यों के अनुशीलन से प्राप्त होता है।

विचित्र प्रयोग के शब्द दोनो काव्यों मे मिलते हैं जो पाणिनीय व्याकरण का अनुगमन नहीं करते हैं—यथा—पुष्प वर्षं, प्रविद्ध तर्पं इत्यादि "गृह्य" का अशुद्ध रूप दोनो रचनाओ मे प्राप्य है। उपपद का प्रयोग (जन्म के अर्थ म), स्था का (खडे रहने के अर्थ मे) तथा परि + गम का (समय व्यतीत करने के अर्थ मे) दोनो काव्यो मे मिलता है इस प्रकार के बहुत से मिलते जुलते प्रयोग दोनो काव्यो मे मिलते हैं।

शैली की सरलता और प्रासादिकी भाषा का प्रयोग दोनों काव्यो म है। वैदर्भीरीति और प्रसाद-गुण की कोमलता से दोनो काव्य अनुप्राणित और ऊर्जस्वित हैं। फिर भी दोनो की तुलनात्मक समीक्षा मे यह प्रतीति होती है कि बुद्धचरित की अपेक्षा सौदरनन्द की काव्यकला और भी निखरी हुई और आकर्षक है। सौन्दरनन्द की भाषा के प्रवाह मे कोमलकान्त पदावली तरगित प्रतीत होती है। हाँ, कहीं कहीं व्याकरणिक प्रयोग खटकते हैं, फिर भी उसकी कोमलतम अभिव्यक्ति अन्यतम है। कालिदास के बाद वैदर्भीप्राण भाषा का प्रयोक्ता अश्वघोष को छोडकर संस्कृत का कोई अन्य कवि नहीं हो सकता।

ऊपर के विवेचनो के उपरान्त यह तथ्य दृढीभूत होता है कि सौन्दरनन्द अश्वघोष की काव्यकला से निसृत द्वितीय रचना है, जिसमे अनुपम काव्य-कौशल का चमत्कार परिलक्षित होता है इसमे कवि ने नन्द के माहर्षिक जीवन को उदात्त और श्रेयपूर्ण बनाने के लिये अपनी काव्य संपदा का सुरुचि-पूर्ण उपयोग किया है। भाषा के कोमल कलेवर मे बौद्ध-सिद्धान्तो के कोमल विन्यास को देखकर महाकवि की अनुपम काव्यचातुरी की परिचिति प्राप्त होती है।

बहुमुखी व्यक्तित्व

लोकोत्तराणा चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति।

उत्तररामचरित—२। ७।

अश्वघोष का व्यक्तित्व बहुमुखी एवं चतुरस्र था। मौलिक प्रतिभा के कवि के साथ ही वे उच्चकोटिक उपदेष्टा, प्रौढ दार्शनिक, कुशल नाटककार तथा सगीतकार थे। जैसे अनेक प्रकार की जलराशि से भरी नदियाँ समुद्र मे आकर मिल जाती हैं और समुद्र गम्भीर हो जाता है, उसी प्रकार अनेक

प्रकार की विधाएँ उनके व्यक्तित्व मे आकर मिल गयी थीं, फलस्वरूप वे आपूर्यमाण प्रतिष्ठा के सांस्कृतिक-सूर्य की भांति अतिभास्वर हो गये थे। कवि अश्वघोष के व्यक्तित्व का निर्माण वेद, उपनिषद् वेदान्त, दर्शन, योग, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र कामशास्त्र अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, दण्डनीति आदि अनेकविध महत्वपूर्ण ग्रन्थो के गहनतम अध्ययन से हुआ था। अश्वघोष ने इन विषयों का एसा मार्मिक अध्ययन किया था कि सब उनके व्यक्तित्व में मिलकर एकाकार हो गये थ। यद्यपि उक्त शास्त्रों पर कवि की कोई प्रत्यक्ष रचना उपलब्ध नहा होती किन्तु इन अनेकविध विषयो का उल्लेख उन्होंने अपने काव्य क कथानक के प्रसग मे, पात्रों के सवादवर्णन में, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि आलकारिक प्रयोगों में अत्यन्त मार्मिक एव बोधगम्य तथा स्वाभाविक शैली में किया है।

अश्वघोष के व्यक्तित्व मे हमें कई प्रधान तत्वों की अन्तर्वीक्षा का दर्शन होता है, जिनमें पाण्डित्य, धार्मिक एव भक्ति भावना, दार्शनिक परिचिति तथा काव्य की कलात्मकता, प्रधान है।

पाण्डित्य

अपने महनीय व्यक्तित्व के निर्माण के लिये जिज्ञासु प्राणी बहुविध शास्त्रों का सम्यक अनुशीलन एव गाढ़ अवेक्षण करता है। शास्त्रावेक्षण स उसके व्यक्तित्व में मनीषिता एव क्रान्तदर्शिता उत्पन्न हो जाती है। महाकाव्य के निर्माण के लिए ऐसी ही क्षमता का होना अपरिहार्य है। महाकाव्य क कलेवर म सम्पूर्ण सस्कृति एव सूक्ष्मविचारों का परेण्य आकलन होता है। सौन्दरनन्द एक ऐसा ही प्राणवान् महाकाव्य है जिसमें उस काल को भारतीय सस्कृति का महाकाव्योचित गौरव के अनुरूप वर्णन हुआ है। अश्वघोष ने अपनी दार्शनिक एव धार्मिक स्थापनाओं की पुष्टि के लिये अनेक शास्त्रों का साहाय्य लिया है, फलत इससे प्रकट होता है कि कवि का पाण्डित्य बहुमुखी और प्रौढ है। उनकी सर्वज्ञता की विवेचना करना तो सम्भव नहीं किन्तु उनकी बहुज्ञता का विवेचन समीचीन मालूम पडता है। यद्यपि बौद्ध-धर्म में ही उन्हें सर्वोत्तम प्रतिष्ठा मिली फिर भी उनके पौराणिक एव अन्य प्रकार के पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान के कारण उनकी धवलकीर्ति का उन्मुक्त प्रसार भी हुआ।

सौन्दरनन्द के सप्तम सर्ग में आये वशिष्ठ, ऋष्यशृंग, वेदव्यास आदि ऋषियों के नाम से यह लक्षित होता है कि उन्हें वैदिक और पौराणिक वृत्तों का सूक्ष्म ज्ञान था। पौराणिक वृत्तों एव ब्राह्मण धर्मों की ओर उद्ग्रीव होने के

कारण उनका यह ज्ञान स्वत. काव्य मे प्रस्फुटित हो गया है। दशम सर्ग मे इन्द्र तथा अन्य स्वर्गीय विवेचन मे उनके वैदिक पाण्डित्य का दर्शन होता है।

सौन्दरनन्द के चतुर्थ सर्ग मे सयोगकालीन चित्रो के वर्णन मे उनके कामशास्त्रीय ज्ञान का दर्शन होता है। हाव भाव तथा कपोलप्रान्त पर विशेषक और तमालपत्रो की रचना का ज्ञान कवि को कामशास्त्र से प्राप्त हुआ मालूम पड़ता है।

अश्वघोष राजनीति के लिये" राजशास्त्र शब्द का व्यवहार करते हैं। बुद्धचरित मे उन्होंने उदायी को "नीति" का अधिकारी पुरुष घोषित किया है। सौन्दरनन्द मे भी दण्डनीति शब्द का व्यवहार हुआ है[1]। इससे स्पष्ट पता चलता है कि उन्हें राजनीति का सम्यक् ज्ञान था।

योगशास्त्र का भी अश्वघोष को अन्यतम ज्ञान था। सौन्दरनन्द के षोडश सर्ग मे योग और ध्यान की प्रक्रिया का वर्णन बिलकुल योगदर्शन से मिलता जुलता है। उन्होने लिखा है कि अनुचित ढग से किया गया योगाभ्यास भी अनर्थकारी होता है अतएव योग के लिये काल का परीक्षण आवश्यक है[2]।

अश्वघोष ने इस काव्य मे तो योग की प्रक्रिया का अन्यतम उदाहरण ही प्रस्तुत कर दिया है—

दन्तेऽपि दन्त प्रणिधाय काम ताल्वग्रमुत्पीड्य च जिह्वयापि।
चित्तेन चित्त परिगृह्य चापि कार्यं प्रयत्नो न तु तेऽनुवृत्ता ॥ (सौ०, १६ । ८३)

इस श्लोक मे योगी को अपनी समस्त प्रक्रिया के साथ योग करने की देशना दी गई है। दाँत पर दाँत का प्रणिधान कर, जिह्वा से ताल्वग्र को उत्पीडित कर तथा चित्त से चित्त का निग्रह करते हुए प्रयत्न करना चाहिये किन्तु उनकी ओर अनुवृत्त नहीं होना चाहिए।

महाकवि का पाण्डित्य सबसे अधिक आयुर्वेद शास्त्र का मालूम पड़ता है। बौद्धदर्शन को सरलतम ढग से समझाने के लिये उन्होने आयुर्वेद के दृष्टान्तो का सहारा लिया है। रस और विपाक की चर्चा उन्होने की है। चरक ने लिखा है कि पिप्पली का रस कटु होता है लेकिन उसका विपाक मधुर और प्रीतिकर होता है। इसी आशय का स्पष्टीकरण अश्वघोष ने बड़े मार्मिक ढग से किया है—

द्रव्य यथा स्यात्कटुक रसेन तच्चोपयुक्त मधुर विपाके।
तथैव वीर्य कटुक श्रमेण तस्यार्थसिद्धयै मधुरो विपाक. ॥ (सौ० १६ ९३)

---

१ रसगाच्चैव शौर्याच्च निखिला गामवीवपत्।
स्पष्टया दण्डनीत्या च रात्रिसत्रानवीवपत् ॥ (सौ० २।२८)

२ सौन्दरनन्द, १६।४९।

२ सौ०

अर्थात् जिस प्रकार द्रव्य का रस कटु होता है लेकिन उसका विपाक मधुर होता है तथैव परिश्रम के कारण उद्योग अप्रिय प्रतीत होता है लेकिन लक्ष्य प्राप्ति के बाद वह सुखदायी प्रतीत होता है।

रोग, रोग का कारण और औषध की चिकित्सा जान लेने पर रोग से सहज मे मुक्ति मिल सकती है। इन कारणो को रोगी यदि सम्यक् रूप से जान जाय तो उसम वह अत्यन्त शीघ्र आरोग्य लाभ करेगा। अश्वघोष ने इसी को प्रतिपादित करते हुए कहा है—

यो व्याधितो व्याधिमवैति सम्यग् व्याधेर्निदान च तदौषधं च।
आरोग्यमाप्नोति हि सोऽचिरेण मित्रैरभिज्ञैरुपचर्यमाणः॥ (सौ० १६।४०)

वात, पित्त और कफ से रोगोत्पत्ति होती है। यथा अहर्निश उडने वाला पक्षी अपनी छाया का अतिक्रमण नही कर सकता उसी प्रकार कोई भी देही दुःख को पार नही कर सकता[१]। उसी प्रकार वात, पित्त एवं कफ मे कोई भी पुरुष अपने शरीर को नहीं बचा सकता। अश्वघोष ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

यथा भिषक् पित्तकफानिलाना य एव कोपं समुपैति दोषः।
शमाय तस्यैव विधिं विधत्ते व्यधत्त दोषेषु तथैव बुद्धः॥
(सौ० १६।६६)

अर्थात् जैसे चिकित्सक कफ–पित्त–वायु मे से जिस दोष के प्रकोप से रोग होता है, उसी की शांति की चेष्टा करता है तथैव बुद्ध ने भी रागद्वेषादि दोषो के शमन के उपाय बताये।

आहार सम्बन्धी विवेचन सुश्रुत और चरक मे उपलब्ध होता है। अश्वघोष ने भी योगियो के लिये आहार सम्बन्धी बातों का विवेचन सौन्दरनन्द के चौदहवें सर्ग में सुन्दर ढग से किया है। यह विवेचन योगियों के लिये परम उपयोगी और श्रेयस्कर है। इस प्रसग मे एक उदाहरण दर्शनीय है—

यथा भारेण नमते लघुनोन्नमते तुला।
समातिष्ठति युक्तेन भोज्येनेयं तथा तनुः॥ (सौ० १४।५)

अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के लिये 'महाभिषक्' शब्द का विशेषण दिया है। भैषज्यगुरु का प्रयोग अश्वघोष के अतिरिक्त और किसी कवि का रचना में उपलब्ध नही होता। अष्टागसग्रह मे भी बुद्ध के लिये भैषज्यगुरु का प्रयोग मिलता है[१]। अश्वघोष के द्वारा प्रयुक्त महाभिषक् शब्द का प्रयोग निम्न पद्य मे देखा जा सकता है—

---

१ अष्टागसग्रहसूत्र अध्याय–२७।

अनर्थभोगेन विघातदृष्टिना प्रमाददंष्ट्रेण तमोविषाग्निना ।
अहं हि दष्टो हृदि मन्मथाहिना विधत्स्व तस्मादगदं महाभिषक् ॥
(सौ० १०।५५)

चित्रप्रदीप की उपमा—पुत्रहीन पुरुष की उपमा चरक संहिता मे चित्रप्रदीप से दी गई है[1]। अश्वघोष ने उन योगियो के लिये इस चित्र की उपमा दी है जो वर्ण मे साधु हैं लेकिन अन्तःकरण से नहीं—

पाणौ कपालमवधाय विधाय मौण्ड्यं
मानं निधाय विकृतं परिधाय वासः ।
यस्योद्भवो न धृतिरस्ति न शान्तिरस्ति
चित्रप्रदीप इव सोऽस्ति च नास्ति चैव ॥ (सौ० ७।४८)

चरक मे लिखा है कि षड धातुओ से समुदित हुए को पुरुष कहते हैं[2]। महाकवि अश्वघोष ने भी इन्ही षड्धातुओ के सम्यक् ज्ञान से मुक्ति बतायी है—

धातून्हि षड भूसलिलानलादीन्सामान्यतः स्वेन च लक्षणेन ।
अवैति यो नान्यमवैति तेभ्यः सोऽत्यन्तिकं मोक्षमवैति तेभ्यः ॥ सौ०१६।४८।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि अश्वघोष को आयुर्वेद का सूक्ष्म और प्रौढ ज्ञान था। कवि, दार्शनिक तथा बौद्ध भिक्षु के अतिरिक्त सम्भवतः वे एक सफल चिकित्सक भी रहे होगे।

वैयाकरणिक पाण्डित्य भी सौन्दरनन्द मे कम नही मिलता है। व्याकरण के नियमो का पालन यद्यपि अश्वघोष ने किया है, फिर भी कही कहीं अनगढ शब्दो का प्रयोग भी मिलता है। कालिदास की भाँति उन्होंने भी व्याकरणिक उपमाओ का प्रयोग किया है[3]। अश्वघोष को लुङ् का प्रयोग अधिक भाता है अतएव उन्होने सौन्दरनन्द के द्वितीय सर्ग मे इसका ठाट जमा दिया है। लिट् के बारहो रूपों का प्रयोग एक पद्य मे करके उन्होंने अपनी व्याकरण कुशलता का प्रदर्शन किया है[4]। सनन्त के रूपों का प्रयोग भी उन्होंने जमकर किया है[5]। भूतकाल के लङ्, लुङ् और लिट् के प्रयोग मे कोई विभेद नही

१ चरकसंहिता २।१।१८।

२ षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते, तद्यथा पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति। एते एव च षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते। (चरकसंहिता अ० ५।५)

३ सौन्दरनन्द १२।९,१०। ४ सौन्दरनन्द ६।२४।

५ सौन्दरनन्द १०।१।

मालूम पड़ता है। इसे देख कर यह प्रतीति होती है कि वे वैदिक-प्रक्रिया के "बहुलं छन्दसि" सूत्र से प्रभावित हो गये हैं।

अश्वघोष अत्यन्त मेधावी और दूरदर्शी कवि थे, तथा उच्चकोटि के काव्य-स्रष्टा एवं सूक्ष्मद्रष्टा के साथ साथ लोकचेतना के अन्यतम अध्येता भी। उनकी दिव्य-दृष्टि काल और सीमा में बँधने वाली नहीं थी अपितु वह उसका अतिक्रमण कर सर्वत्र व्यापक हो गयी थी। यद्यपि उनके पाण्डित्य में महाकवि श्री हर्ष का वैचक्षण्य प्राप्त नहीं होता जिनकी प्रत्येक कविता में श्लेष की जटिल ग्रन्थियाँ मिलती हैं किन्तु उसमें आप को सरलता और अभिव्यंजना की प्रणाली में स्वाभाविकता का मनभावन दर्शन होगा। सौन्दरनन्द की रचना उन्होंने प्रौढ़ व्युत्पत्ति और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के मणिकाञ्चन संयोग से की है। अतएव उनका धार्मिक एवं अन्य सिद्धान्त विषयक पाण्डित्य काव्योत्कर्ष का उपस्कारक बन गया है।

धार्मिक एवं भक्ति-भावना

महाकवि अश्वघोष ने श्रद्धा एवं शील से सम्पन्न होकर बौद्ध-धर्म का अपेक्षित विस्तार करने की अभिलाषा में दो महाकाव्यों की रचना की है। दोनों काव्यों में कवि की चेतना बौद्ध-धर्म की भावना से अभिभूत एवं उद्भासित दीखती है। बौद्ध धर्म को सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोन्नत घोषित करने के लिये ही उन्होंने काव्यमाधुरी के साथ ही दर्शन के अनुपम तत्त्वों को समन्वित कर जीवन के श्रेय मार्ग का प्रदर्शन किया है। नवीन किसलयों से युक्त रसाल के आलवाल के नीचे जैसे सूर्यातप से तपे प्राणियों को शान्ति मिलती है वैसे ही धर्म के कल्प वृक्ष के नीचे अयाचित वरदान पाकर मुमुक्षु प्राणी आनन्द-लाभ करता है। सांसारिक वासना के पंकिल जीवन से उठकर, धर्म की भावनाओं से अपने अन्तःप्रदेश को आलोकित करता हुआ वह निर्वाण नगर में प्रविष्ट होने के लिये तत्पर होता है। श्रद्धाशील कवि अश्वघोष ने बौद्ध-धर्म का प्रचार नगर-नगर में, गाँव गाँव में घूम घूमकर संगीत की अमिय स्वरलहरी से किया था। यही कारण है कि बौद्ध धर्म को लोकप्रिय और सार्वजनीन बनाने के लिये उन्होंने उसे मधुस्यन्दी कविता की अजस्र धारा में समवेत कर दिया है। अश्वघोष ने इसे पूर्ण रूप से जाना था कि संसार के कल्याण के लिये तथा वासनात्मक संसार से परित्राण पाने के लिये धर्म की अपेक्षा होती है। धर्म की भावना से जन-जीवन प्रभावित होकर अपने को संयमित और परिष्कृत करता है। यही कारण है कि उसके व्यावहारिक जीवन से धर्म का अटूट सम्बन्ध हो जाता है।

अश्वघोष ने बौद्ध-धर्म की व्याख्या करते समय उसके तत्त्वज्ञान का भी विवेचन किया है, क्योंकि जिस धर्म में तत्त्वज्ञान का अभाव रहता है, वह चिरस्थायी नही होता। बौद्ध-दार्शनिक होने के कारण उन्होने धर्म की तात्त्विकता का अधिक प्रभावपूर्ण वर्णन किया है। उन्होंने बतलाया है कि धर्म के लिये किया जानेवाला श्रम सभी श्रमों से उत्कृष्ट है तथा ज्ञान के लिये सम्पादित कार्य सभी कार्यों में उत्तम है[1]। धर्म को परिवर्धित करने के लिये कवि ने चेतना की सप्रासादिकी श्रद्धा के अङ्कुर बढ़ाने का आदेश दिया है[2]।

अश्वघोष मे केवल बौद्ध धर्म के प्रचार की ही भावना नहीं थी अपितु वे परधर्मसहिष्णु भी थे। एक ओर यदि उन्होने अपने मौलिक विचारो की अभिव्यक्ति की है तो दूसरी ओर उन्होने ब्राह्मण धर्म के प्रति आदर की भावना रखी है। वैदिक तथा ब्राह्मण-धर्म की ओर उनका हृदय आस्तिक है। कपिल मुनि को उन्होने धार्मिको मे वरेण्य बतलाया है तथा शुद्धोधन के वेद स्वाध्याय और यज्ञविहित कार्यों का आदर से उल्लेख किया है[3]।

नन्द के धर्म प्रचार मे अश्वघोष की यह उक्ति उनकी परधर्मसहिष्णुता का प्रतीक है . .

निर्मोक्षाय चकार तत्र च कथा काले जनायार्थिने ।
नैवोन्मार्गगतान्परा-परिभवन्नात्मानमुत्कर्षयन् ॥ (सौ० १८।६२)

इस तरह हम देखते हैं कि उसने मुमुक्षु प्राणियो के लिये बौद्ध-धर्म की देशना तो अवश्य दी लेकिन दूसरे धर्मानुयायियो की कभी निन्दा तथा आलोचना नही की। वस्तुतः उपदेष्टा वही है जो दूसरे की आलोचना न करता हुआ भी अपनी ओर लोगो की चेतना को सहज आवर्जित कर उसमे धर्म की सजीवनी धारा बहा दे।

अश्वघोष मे भक्तिभावना का भी चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है। नन्द जब सासारिक वासना का अतिक्रमण कर रागरहित हो जाता है तब वह विनयावनत हो भक्ति-भावना से करुणात्मक बुद्ध के समीप जाता है और अपनी प्रगति निवेदित करता है—

---

१ धर्माय खेदो गुणवान् श्रमेभ्यः ।
ज्ञानाय कृत्यं परम क्रियाभ्य' ॥ सौ० ५।२५।

२. श्रद्धाङ्कुरमिमं तस्मात्सवर्धयितुमर्हसि ।
तद्वृद्धौ वर्धते धर्मो मूलवृद्धौ यथा द्रुम ॥ सौ० १२।४१।

३. तेनापायि यथाकल्पं सोमश्च यश एव च ।
वेदश्चाम्नायि सततं वेदोक्तो धर्म एव च ॥ सौ० २।४४।

नमोऽस्तु तस्मै सुगताय येन हितैषिणा मे करुणात्मकेन ।
बहूनि दु खान्यपवर्तितानि सुखानि भूयास्युपसहृतानि ॥ (सौ० १७।६३)

भगवान् बुद्ध के लिये अश्वघोष ने विशेषदर्शिन् करुणात्मन् महाभिषक् तथा परमानुकम्पक का विशेषण दिया है । इससे प्रकट होता है कि महाकवि के हृदय मे बुद्ध के प्रति अनुपम भक्तिभावना विद्यमान थी ।

अश्वघोष ने भगवान् की शरण से बढ़कर धर्माचरण को ही बतलाया है । अपने चरणो मे नतमस्तक नन्द को सम्बोधित करते हुए भगवान् बुद्ध कहते हैं—

उत्तिष्ठ धर्मे स्थित शिष्यजुष्टे कि पादयोर्मे पतितोऽसि मूर्ध्ना ।
अभ्यर्चन मे न तथा प्रणामो धर्मे यथैवा प्रतिपत्तिरेव ॥ (सौ० १८।२२)

दार्शनिक परिचिति

महाकवि अश्वघोष ने साहित्य के माध्यम दर्शन के रहस्यात्मक तत्त्वो को इस सरलता से समझाया है कि वह अत्यन्त हृदयस्पर्शी हो गया है । उन्होने अपने काव्यो की रचना सासारिक अनित्यता के मोह पाश से बधे जीवों को, बौद्ध धर्म वर्णितमोक्ष की ओर उन्मुख करने के लिये की है । सरल एव अव्याज मनोहर कविता मे दार्शनिक एव आध्यात्मिक तत्त्वो का समजन करते हुए भी उन्होंने उसे हृद्य बनाने की चेष्टा की है । सौन्दरनन्द बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तो के मार्मिक तत्त्वो से आपूरित है । साथ ही उसमे श्रेयस् की भावना का सरस एव ऋजु कोमल आकलन भी है ।

बौद्ध दर्शन मे दु खवाद, अनात्मवाद और अनित्यतावाद, इन त्रिलक्षणो' का सम्यक विवेचन हुआ है । महाकवि अश्वघोष ने सर्वत्र सासारिक क्षणभगुरता का निर्देश किया है तथा दु खवाद की शाश्वत-प्रवृत्ति का जोरदार समर्थन किया है । उन्होंने जीवन और जगत् को दु ख से आक्रान्त तथा समवेत माना है । दु ख मनुष्य के अग का अविच्छेद्य धर्म है । उन्होने दु ख का कारण जन्म को माना है तथा जन्म का कारण तृष्णा और मोह की स्थिति है । तृष्णा और मोहात्मक रागो एव दोषो के प्रहाण से जन्म का निरोध हो जाता है और जन्म के निरोध हो जाने से पुनर्भव का भय समाप्त हो जाता है ।

अश्वघोष ने प्रणीततर तथा पण्डित वेदनीय चार आर्य-सत्यो का एव परम श्रेष्ठ आष्टागिक मार्गो का अनुपम ढग से वर्णन किया है । उन्होने लिखा है कि शील समाधि प्रज्ञा से युक्त त्रिस्कन्ध वाले इस आष्टागिक पर आरूढ होकर आर्यजन दुःख के कारण रूप दोषों को छोड कर शान्त, शिव एव मगल-

मय पद को प्राप्त करता है[1]। निर्वाण की प्राप्ति तक पहुँचने के लिये मनुष्य को यौगिक क्रियाओ का सयम और चित्तो का सयमन करना पडता है। योगी अपनी इन्द्रियो का सयम करता हुआ शीलवान् होता है। अश्वघोष ने योगी पुरुषो के लिये शील, श्रद्धा, वीर्य स्मृति तथा प्रज्ञा का पालन श्रेयस्कर बताया है। इन पचकश्रयस् वृत्तियो का उन्होने शालीन विवेचन किया है। शील के बिना कोई पुरुष किसी कार्य का सम्पादन नही कर सकता जैसे बिना किसी आधार के खडा होना सम्भव नही। महाकवि भर्तृहरि ने लिखा है कि अग्नि म जल मरना कही अच्छा है, लेकिन शील का विलयन सुन्दर नही[2]। श्रद्धा धर्म के मूल को बढानेवाली प्रासादिकी भावना है। इसके बिना धर्म की उत्पत्ति सम्भव नही। धर्म की उत्पत्ति मे श्रद्धा ही सवश्रेष्ठ कारण है[3]। वीर्यवान पुरुषो को ही प्रतिष्ठा मिलती है। इस वीर्य की अवाप्ति ब्रह्मचर्य की अन्यतम प्रतिष्ठा से होती है। सयम के द्वारा अपनी बलवती इन्द्रियो को वशीभूत कर जो पुरुष तत्त्व का दर्शन करता है, उसका श्रद्धा वृक्ष आश्रय और फल दोनो प्रदान करता है[4]। स्मृति का भी परम महत्त्व है। इसी के बल पर वह पूर्वानुभूत वस्तुओ का स्मरण करता है और उसको शुद्ध करन के लिये अवधानवान होता है। विषयो के असम्प्रमोष से वस्तुओ की स्थिति का निरन्तर ज्ञान रहता है। जिसके पास स्मृति रहती है उसे विषयो के बाण क्लेशित नही करते। अतएव अश्वघोष ने लिखा है कि उठते बैठते सचरण करते या अन्य कार्यों का सम्पादन करते समय अपन सभी क्रियाकलापो को सम्यक् रूप से जानते हुए, अपनी स्मृति को उद्बुद्ध किये रहो[5]। प्रज्ञा का इस क्षेत्र मे सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैराग्य का उपनिषद् सम्यक् ज्ञान है और सम्यक् ज्ञान का उपनिषद् ज्ञान का दर्शन है[6] ज्ञान से ही समाधि का उपनिषद् होता है। प्रज्ञा दोषो को निष्पिष्ट कर देती है। उसके निरोध से दोष पुन उत्पन्न नही होते। जब सभी दोषो का प्रहाण हो जाता है तब निर्वाण की प्राप्ति होती है। अश्वघोष ने बतलाया है कि सभी दुखो का निरोध ही निर्वाण है निवृत्त हो जाने पर जीव किसी दिशा विदिशा मे या आकाश पाताल मे नहीं जाता अपितु निर्वापित दीपशिखा क समान दोषो के शमित हो जाने पर परम शान्ति को प्राप्त कर जाता है। यह निर्वाण अमृत पद के समान तथा मगलमय है।

---

१ सौन्दरनन्द १६।३७।
२ वर वह्नौ पातस्तदपि न कृत शीलविलय । भर्तृहरि।
३ यस्माद्धर्मस्य चोत्पत्तौ श्रद्धाकारणमुत्तमम्। सौ० १२।४०।
४ सौन्दरनन्द १२।४३। ५ सौन्दरनन्द १४।३५।
६ सौन्दरनन्द १३।२२।

कलात्मक मान्यता

कलात्मक प्रतिभा का विवेचन अन्य स्थानो मे भी हो चुका है, अतएव यहाँ कुछ विशेष लिखना अपेक्षित नही है। अश्वघोष का काव्य न तो कलावादी है और न चमत्कारवादी ही। उनके कलात्मक स्वरूप मे बौद्धधर्म का उपदेशवाद और प्रचारवाद का स्वरूप सन्निहित है। कालिदास आदि कवियों की तरह वे रस को साध्य न मानकर साधन मानते हैं। उनके काव्य का श्रेय शान्ति प्रदान करना है, अतएव सामान्य-जन के लिये वे दर्शन के गहन तत्त्वोको काव्य की रसपेशल पदावली मे उपनिबद्ध करते हैं। यद्यपि अश्वघोष की कला में उपदेशवाद का स्वर तीव्र है फिर भी वे कोरे उपदेशवादी नही हैं। उनके काव्य मे अत्यन्त मधुरता तथा सहृदयता है। रस, रीति एवं अलंकार इत्यादि का पूर्ण निर्वाह करते हुए बौद्धधर्म को उपन्यस्त करने में उन्होने अप्रतिम चातुरी से काम लिया है। काव्य मे उदात्त तत्त्वों का समाहार करना उनकी अपनी मान्य विशेषता है। इस प्रकार के काव्य मे ही वस्तुतः चिरस्थायिता का गुण समाहृत होता है। एक बात उल्लेख्य है कि अश्वघोष के काव्य मे जीवन का वह व्यापक दृष्टिकोण नहीं मिलता है जो कालिदास इत्यादि अन्य कवियो की रचनाओ मे उपलब्ध होता है, किन्तु उदात्तता के परम अवदात स्वरूप की अन्यतम झाँकी अवश्य मिलती है।

अश्वघोष का कवित्व सौन्दरनन्द के चतुर्थ सर्ग तथा दशम सर्ग मे निखरा है, जहाँ उन्होने उन्मुक्त हृदय से शृङ्गाररस का वर्णन किया है। षष्ठ सर्ग का विरहवर्णन भी मर्यादित एवं शृङ्गार को परिपुष्ट करनेवाला है। कवि ने यत्र-तत्र सरस एवं मनुहारमयी सूक्तियों का भी प्रयोग किया है, जिससे काव्य में अलौकिकता आ गयी है[१]।

आदान : पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

पूर्वदृष्टा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ।। ध्वन्यालोक—आनन्दवर्द्धन ।

काव्य में उपजीव्य-उपजीवक भाव

नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से समन्वित कवि अपनी कविताओं मे नवीन भावों और कल्पना मण्डित अनुभूतियों के माध्यम कोमलकान्त चित्रों का

---

१. (क) वीर्यं परं कार्यकृतो हि मूल,
वीर्यादृते काचन नास्ति सिद्धि । सौ० १६।९४।
(ख) वीर्यं हि संवर्द्धय: । सौ० १६।९८

आकलन करता है। कवि अनुभूतिप्रवण और क्रान्तदर्शी होता है। वह अपनी सूक्ष्म पारखी दृष्टि से अतलस्पर्शी सौन्दर्य का उद्घाटन कर कलात्मक ढग से इस प्रकार रखता है कि वह वस्तु भव्य और नूतन मालूम पड़ती है। काव्य की सर्जना के लिये प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास की नितान्त अपेक्षा होती है। प्रतिभा कवित्व का बीज है[1]। व्युत्पत्ति का अभिप्राय बहुज्ञता से है[2]। जो कवि जितना बहुज्ञ और विश्रुत होगा वह उतना ही सक्षम और प्राणवन्त कलाकार होगा। यह बहुज्ञता अपने पूर्ववर्ती काव्यकारो, ऋषियो और सूक्ष्मद्रष्टाओ की रचनाओ से उपस्कृत होती है। शास्त्र काव्यादि के अवेक्षण से *कवि का हृदय संचेतित हो जाता है और वह अपनी नयी अनुभूतियों का* प्रकाशन भाषा के माध्यम से करता है। प्रत्येक कवि प्रकृति के रम्यस्थल में दृश्यमान वस्तुओ का वर्णन करता है। पूर्ववर्ती कवियो के अनुशीलन से परवर्ती कवि अवश्य प्रभावित होता है परन्तु प्रौढप्रतिभा का कवि पूर्ववर्ती कवि कृत वर्णनों से प्रभावित होता हुआ भी उसे अभिनव ढग से प्रस्तुत करता है। दूसरे कवि का अनुकरण करनेवाला कवि कभी मौलिक और जीवन्त कलाकार नही हो सकता। नूतन सर्जना करनेवाले कवि की कविता चिरस्थायी और शाश्वत होती है।

पूर्ववर्ती कवि की शैली को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने वाले कवि को हम निम्न कवि की कोटि मे नहीं ला सकते। कवि के कलात्मक सौन्दर्य की परीक्षा तो उसके काव्य मे वर्णित विषयो मे होती है न कि केवल शैली के दर्शनमात्र से। मार्मिक पक्ष की विवृति के फलस्वरूप ही हम उसकी काव्यकला को उत्तमता सिद्ध कर सकते हैं। प्राचीन और अर्वाचीन का कोई *प्रश्न नहीं। प्रौढ विवेचक तो काव्य मे वर्तमान विषयतत्वो के समीक्षण के* बाद ही अपनी धारणाओ का निर्धारण करते हैं[3]। ऐसा भी देखा जाता है कि एक कवि की कविता दूसरे कवि की कविता से शब्द, वाक्य-विन्यास एवं भाव-कल्पना मे साम्य रखती है। इसे देखकर हम यह कदापि कहने की धृष्टता नहीं कर सकते कि एक ने दूसरे की अनुकृति की है, क्योंकि कल्पना के साम्राज्य में सब को पूर्ण स्वातन्त्र्य है। उन्मुक्त विहार करने के लिये सब को ईश्वर ने अबाधगति प्रदान की है। महापुरुषो के विचार प्राय एक दूसरे से सामञ्जस्य रखते हैं, यद्यपि दोनों मे देश काल आदि का बहुत व्यवधान

---

१. कवित्वबीजं प्रतिभानम्—वामन, काव्यालंकारसूत्र।

२. बहुज्ञता व्युत्पत्तिः। काव्यमीमांसा १।५।

३. पुराणमित्येव न साधु सर्वम्। कालिदास।

रहता है[1]। चिन्तन क्षमता की यह समत्वभावना प्रायः प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान रहती है। परवर्ती कवि अपनी *काव्य सम्पदा को समृद्ध करने के* लिए पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों का गाढ़ अनुशीलन और मनन करता है। अतएव उसके हृदय पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उसका संस्कार बना रहता है, फलस्वरूप पूर्ववर्ती कवियों के भावों का साम्य उसके काव्यों में परिलक्षित होता है। उपजीव्य-उपजीवकभाव की इस समता से कवियों की कृतियों का आदर ही होता है, उपेक्षा नहीं।

आदिकवि वाल्मीकि

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥

त्रिविक्रम भट्ट।

महर्षि वाल्मीकि आदि काव्य के आद्य स्रष्टा कहे जाते हैं। उन्होंने, करुणा-विकल क्रौंची के स्वर से उद्वेलित होकर करुणरसनिर्भर छन्द का सर्वप्रथम उद्गायन किया और उसी छन्द में भारतीय संस्कृति के अन्यतम पुरुषोत्तम राम की चरित-मर्यादा का भव्य निबन्धन किया। यह रामायण, महाकाव्य के महत्व का उद्घोष करनेवाला प्रथम महाकाव्य है। यह सर्वश्रेष्ठ काव्य का सुन्दर निकषोपल है। निकषोपल पर कसी काचन-रेखा के समान इसकी कविताएँ कोमल और भासमान हैं। आर्षचक्षु के उन्मेष होने के साथ ही उन्होंने सरल भाषा में अभिनव काव्य की सृष्टि की है, जिसका काव्यबन्ध *अशिथिल और प्राञ्जल है। सुष्ठु शब्दविन्यास, भावग्राहक भाषा,* मनोरम कल्पना एवं सरल शैली का चमत्कार अत्यन्त उत्कर्षक है। इसमें कोमल भाव प्रवण उपमाओं एवं उत्प्रेक्षाओं का सुन्दर अलंकरण है। इसके वर्णन अत्यन्त रसपेशल और कोमल हैं तथा पदे-पदे औचित्य की व्यापकता झाँकती है।

अनुष्टुप छन्द के सर्वप्रथम आविष्कर्ता आदिकवि वाल्मीकि ही हैं। इनके पूर्व भी उपनिषदों में अनुष्टुप छन्द की निर्मिति देखी जाती है किन्तु समास्रान्वित अनुष्टुप का सर्वप्रथम प्रयोग वाल्मीकि विरचित रामायण में ही मिलता है।

वाल्मीकि कवियों के परम उपजीव्य हैं। उनकी कान्त-कोमल कविताओं *की रमणीयता से रीझ कर परवर्ती सभी कवियों ने उनके काव्यबन्धों का गाढ़*

---

[1] संवादस्तु भवत्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्। काव्यमीमांसा से उद्धृत।

अध्ययन किया तथा उसकी कोमल भावसंपदाओ से अपने काव्य की अनुपम भारती का शृङ्गार भी किया है। भाव-भाषा, कल्पना सभी क्षेत्रो मे कवियो ने उनका अनुकरण किया है। काव्य कल्पद्रुम के इस कोकिल के मानसोन्मादी स्वर से सभी परवर्ती कवियो की हृत्तन्त्री झकृत होती रही है। आद्यकवि वाल्मीकि के सर्वश्रेष्ठ उत्तराधिकारी अश्वघोष हैं। सर्वप्रथम उन्होने ही उनकी शैली, भाषा, छन्द तथा वस्तुवर्णन की प्रणाली का अनुकरण किया और उस पर अपनी प्रतिभा की मुहर लगायी। महाकवि अश्वघोष ने सर्वदा महर्षि वाल्मीकि के प्रति अपनी विनयिता तथा आदर भाव प्रदर्शित किया है तथा धीमान् और "आद्यकवि" के महनीय विरुद से अलकृत किया है। सौन्दरनन्द और रामायण मे कई सादृश्य लक्षित होते हैं, यह अश्वघोष, के रामायण के गाढ अनुशीलन का द्योतक है। अश्वघोष प्रौढ प्रतिभा क सूक्ष्म समीक्षक और विशिष्ट अन्तर्दृष्टि के कवि थे। उन्होने प्रत्येक वस्तुओ के अन्तःप्रदेश मे प्रवेश कर उसके अन्तर्वर्ती तत्वों के रहस्यो का उद्घाटन किया है। प्रतिभा और दृष्टि-नैपुण्य के बल पर उन्होने आद्यग्रन्थ रामायण का गाढ पर्यवेक्षण किया था। यही कारण है कि उनके दोनो काव्यो मे अधिक समता मिलती है। सामाजिक एव लोक जीवन से गृहीत उपमा, भाषा तथा चिन्तन प्रणाली मे वाल्मीकि और अश्वघोष मे आत्यन्तिक सादृश्य है। दोनो कवियो ने अपनी कविता को कोमल अलकृति के लिये लोक जीवन से प्रेरणा ग्रहण की है। रामायण के कवि का अश्वघोष पर पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है ऐसा परिलक्षित होता है कि रामायण की कई वस्तुओ को आदर्श बनाकर अश्वघोष ने अपनी रचनाओ का निर्माण किया है। रामायण और सौन्दरनन्द मे, सौन्दर्य-दर्शन, व्याकरणिक प्रयोग, शील और सदाचार, वियोगजनित दुःख इत्यादि का साम्य लक्षित होता है। विभूतिविलसित नगर का जैसा वर्णन सौन्दरनन्द मे मिलता है उसकी समानता रामायण मे वर्णित नगर से है (१-५)। सौन्दरनन्द मे जैसा आश्रम का वर्णन है (१-५ १७) वह रामायण के आश्रम वर्णन पर आधारित है (रा० ३।११।९, ३।११।४७-५२) वियोगविह्वल सुन्दरी के विलाप की समानता तारा के शोक से (रघुवश, ८-२० २३) और सीता के कारुणिक विलाप (रा० ५ २५-२६-२८) मे है। वस्त्राभरणो को दिशाओं मे फेंकने वाली सुन्दरी की समता अलकरणो को इतस्ततः बिखेरनेवाली कैकेयी मे है (रा० ११ ९ ५९) सौन्दरनन्द म वर्णित हिमालय की समता रामायण मे वर्णित हिमालय से (रा० ५, ५६, २६-५०, ७, ६२, १-१६) है।

अश्वघोष को अनुष्टुप छन्द का बड़ा व्यामोह है। उन्होंने सौन्दरनन्द मे अधिकाश कविताएँ इसी ललित छन्द मे लिखी है। हो सकता है इन्होंने इसे

रामायण से लिया हो, क्योंकि सम्पूर्ण रामायण की निर्मिति इसी छन्द मे हुई है। यद्यपि इस छन्द का प्रयोग चरियापिटक और अवदान आदि पालि ग्रन्थो मे भी हुआ है।[1] अश्वघोष के पूर्व महर्षि वाल्मीकि ने शुद्ध वैदर्भी रीति का आश्रय लिया है। अश्वघोष ने भी अपनी सम्पूर्ण रचना उदारवृत्तिवैदर्भी रीति मे ही की है।[2] आदि कवि वाल्मीकि की भाँति ही अश्वघोष की भाषा सरल प्राजल और समासरहित है। सौन्दरनन्द मे सर्वत्र प्रसाद गुण का साम्राज्य लक्षित होता है।

अश्वघोष ने यद्यपि अपने काव्य का निर्माण रामायण को आदर्श मानकर किया है किन्तु उसने अपनी प्राणवन्त प्रतिभा से उसमे नवीनता और प्रौढ़ता उत्पन्न कर दी है। अलकारो और छन्दो मे उन्होंने नये-नय विधान और सयोजन किये हैं। इसमे कवि की कवित्व कला की उत्कृष्टता के दर्शन होते हैं। दार्शनिक एव धार्मिक विचारों का प्रकाशन कवि ने ऐसे मर्मस्पर्शी सम्भाषण के द्वारा प्रस्तुत किया है कि वह पाठकों के मन को अनायास आवर्जित कर लेता है। कविताओं के निर्माण मे उन्होंने व्यक्तित्व की तरह ही सरलता से काम लिया है कि वह पूर्णत सहृदय सवेद्य हो सके। भाव और भाषा को रजक एव प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उन्होंने अलकारों एव छन्दो के परिवर्तन का भी सहारा लिया है ताकि एकरसता का अनुभव पाठकों को न हो। सर्वत्र वैदर्भी अपने उदारगुणों से पाठको के मन को आकृष्ट कर उसका सम्मोहन किया करती है[3]। अश्वघोष की वैदर्भीविलसित भारती धन्य है जिसमे उन्होने बौद्ध देशना के सूक्ष्म दार्शनिक तत्वो को अपनी कोमलकान्त पदावली के कमनीय कलेवर मे सजो दिया है।

श्रीमद्भगवद्गीता और सौन्दरनन्द

सौन्दरनन्द और गीता के तुलनात्मक अध्ययन के बाद हमे यह लक्षित होता है कि दोनो में अपूर्व साम्य एव साधर्म्य है। प्रत्येक दृष्टि से विवेचन कीजिए दोनो मे अपूर्व सादृश्य परिलक्षित होगा। सौन्दरनन्द मे भी योगात्मक अभ्यास के द्वारा निर्वाणसप्राप्ति की बात कही गई है और गीता मे भी

---

१ बी० सी० ला हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, प्रथम भाग, पृ० २९०।

२ तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता ।
विपचीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ।

सरस्वतीकण्ठाभरण—२।२९।

३ धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारै र्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ॥

नैषधमहाकाव्य।

कर्मयोग और ज्ञानयोग की विशदव्याख्या प्रस्तुत कर धनुर्धर पार्थ को कर्मयोगी बनने का उपदेश दिया गया है। ऐसा लगता है कि अश्वघोष ने गीता को आदर्श मानकर उसी के अनुसार इस ललित काव्य की सृष्टि कर बौद्ध-देशना को मधुमिश्रित अवलेह की तरह प्रिय बना दिया है। सौन्दरनन्द और गीता मे केवल भावो की ही समानता नही मिलती अपितु शब्दो का भी साम्य है। योग मे वर्णित नियम एव विधियो का दर्शन तो अन्यत्र भी सभव है किन्तु सौन्दरनन्द और गीता मे आयी हुई योगविधियो का अपूर्व सामजस्य है।

सौन्दरनन्द की समाप्ति अष्टादश सर्गों मे होती है, गीता की समाप्ति भी अष्टादश मे होती है। सौन्दरनन्द का नन्द सकल्प-निर्बल कामदग्ध है। अर्जुन स्वजनो की स्मृति से मोहमोहित है। नन्द के उपदेष्टा सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् बुद्ध हैं और अर्जुन के उपदेष्टा जगन्नियन्ता जगदीश श्रीकृष्ण हैं। स्वजन परिजन की स्मृति से अर्जुन मे क्लैब्य उत्पन्न हो गया है। नन्द अपनी प्राणप्रिया के सौन्दर्य से मोहविकल हो गया है। अर्जुन रणस्थली से भागना चाहता है—उसे रणक्षेत्र मे अभय कूदकर शत्रुओ के विनाश की इच्छा नही होती, वह कहता है—"न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह" (गीता २।९)। इधर नन्द भी कहता है—'शनैस्ततस्त समुपेत्य नन्दो न प्रव्रजिष्याम्यहमित्युवाच" (सौ० ५।३५)। अर्जुन के गात्र शिथिल हो रहे हैं, उसके शरीर मे कम्पन हो रहा है। वह अधीर हो स्वय कह उठता है—

> दृष्ट्वेम स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
> सीदति मम गात्राणि मुख च परिशुष्यति॥
> वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
> गाण्डीव स्रसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
> न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मन॥
>
> गीता १।२८, ३०।

वह कार्पण्यदोष से अपहृत हो भगवान् श्रीकृष्ण से कल्याणमार्ग पूछता है—

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव पृच्छामि त्वा धर्मसम्मूढचेता:।
> यच्छ्रेय स्यान्निश्चित ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽह शाधि मा त्वा प्रपन्नम्॥
>
> गीता।

कारुणिक नन्द की भी यही दयनीय अवस्था है। वह भी भगवान् बुद्ध को वाग्वारि से अभिषिक्त करने की सानुरोध प्रार्थना करता है—

> यथा प्रतप्तो मृदुनातपेन दह्येत कश्चिन्महतानलेन।

रागेण पूर्वं मृदुनाभितप्तो रागाग्निनानेन तथाभिदह्ये ।।
वाग्वारिणा मा परिषिंच तस्माद्यावन्न दह्ये स इवाजशत्रु ।
रागाग्निरद्यैव हि मा दिधक्षु कक्ष सवृक्षाग्रमिवोत्थितोऽग्निः ।।
प्रसीद सीदामि विमुंच मा मुने वसुन्धराधैर्यं न धैर्यमस्ति मे ।
असून्विमोक्ष्यामि विमुक्तमानस प्रयच्छ वा वागमृत मुमूर्षवे ।।
सौ०, १०।५२ से ५४ ।

तस्माद्व्यासेसमासाभ्यां तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
यच्छ्रुत्वा प्रतिपत्ता येन परम प्राप्नुयां पदम् ।।
सौ०, १२।१७ ।

मोहाभिभूत अर्जुन के क्लैव्यभाव के विनाश के लिये भगवान् कृष्ण गीता का उपदेश करते हैं और वासनाओं की कामना से वशीभूत नन्द के वैराग्य के लिये सम्यक् सम्बुद्ध सौन्दरनन्द में निर्वाण का उपदेश करते हैं।

भगवान् कृष्ण जब अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन करा देते हैं तब उसकी मोह भावना का तिरोधान हो जाता है और उसमें ज्ञान की किरणें चमक उठती हैं। वैसे ही सौन्दरनन्द में जब भगवान् बुद्ध नन्द को स्वर्ग का दर्शन करा देते हैं, तब अप्सराओं को और एकाक्षिणि वानरी को देखकर उसके मन में भी सासारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। भगवान् कृष्ण अपने स्नेहमय जीवन्त उपदेश में अर्जुन को कर्मयोगी बना युद्ध की ओर उत्प्रेरित करते हैं और भगवान् बुद्ध नन्द को निर्वाण का उपदेश कर उसे वैराग्य की ओर तन्मय कर देते हैं।

अर्जुन जब भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेशामृत का पान कर लेता है, और उसके हृदय में जब ज्ञान की असीम किरणें सदप्त हो जाती हैं, तब वह सन्तुष्ट चित्त हो कहता है—

नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देह करिष्ये वचन तव ।। १८ । ७३ ।

सौन्दरनन्द में नन्द भी भगवान् बुद्ध के आज्ञा-पालन के लिये तत्पर दीखता है—

कर्तास्मि सर्वं भगवन्वचस्ते तथा यथा ज्ञापयसीत्युवाच । (सौ० ५।५० ।)

नष्टकाम दृढचेता नन्द भी भगवान् बुद्ध के उपदेश से प्रीत हो स्नेहसिंचित हृदय से प्राणवान् स्वरों में कह उठता है—

छिन्न. स निसंशय सशयो मे
त्वच्छासनात् सत्पथमागतोऽस्मि ।

दोनो ग्रन्थो में यौगिक एव दार्शनिक रहस्यो का विवेचन है, साथ ही दोनों धार्मिक और योग-प्रधान विवेच्य-ग्रन्थ हैं। दोनो परमपुरुष दोनो पुरुषो को योगयुक्त होने का उपदेश करते हैं।

सौन्दरनन्द और गीता मे आयी योग की शब्दावलियो मे भी अपूर्व सादृश्य है। शील सयम श्रद्धा सदाचार एव इन्द्रियसयम का विवेचन दोनो मे समान ढग से हुआ प्रतीत होता है।

गीता मे जैसे भगवान् कृष्ण ने योगात्मक तत्वो का विवेचन करते हुए अर्जुन के हृदय मे ज्ञान के अनुपम बीज का वपन कर उसे प्राणवन्त ज्योति से उद्बुद्ध कर दिया है उसी प्रकार महाकवि अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के मुख से नन्द को उपदिष्ट कर उसे निर्वाण की सप्राप्ति के लिये सचेतित करा दिया है। वस्तुत अगर देखा जाय तो महाकवि अश्वघोष की यह कृति बौद्ध धर्म की अभिनव दार्शनिक गीता है जिसमे निर्वाण की प्राप्ति के लिये अमिय उपदेश सन्निविष्ट है।

अश्वघोष ने अपने काव्य के निर्माण के लिये अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो का अवेक्षण और अनुशीलन किया था। वस्तुत उन्होंने मधुकर की भाँति अनेक प्रकार के फूलो से पराग लेकर एक जगह मधु तैयार कर दिया है जिसमे आस्वाद की नवता सतत एक रूप मे वर्तमान है। सूक्ष्मदर्शी अश्वघोष ने जीवन और जगत् का, जन-स्वभाव एव मानवीय व्यापारो का सूक्ष्म अवलोकन किया था और उसमे अनुप्राणित होकर उन्होने उदात्त जीवन की नूतन पद्धति का अभिनव निर्देश प्रस्तुत किया है। महाकवि की चेतना बहुविध काव्यो तथा दार्शनिक ग्रन्थो की सूक्ष्म वस्तुओ से चमत्कृत हुई थी। निम्न उद्धरणो मे यह पूर्णत स्पष्ट हो जायगा —

तत स्मृतिमधिष्ठाय चपलानि स्वभावत । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवारयितुमर्हसि ॥ (सौ० १३।३०)	तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वश । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो- स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (गीता २।६८)
विषयैरिन्द्रियग्रामो न तृप्तिमधिगच्छति । अजस्र पूर्यमाणोऽपि समुद्र सलिलैरिव ॥ (सौन्दरनन्द, १३।४०)	रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गीता २।६४)

प्रवृत्तिदुःखस्य च तस्य लोके
तृष्णादयो दोषगणा निमित्तम् ।
नैवेश्वरो न प्रकृतिर्न कालो
नापि स्वभावो न विधिर्यदृच्छा ॥
(सौन्दरनन्द, १६।१७)

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुषेति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावात्
आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।२)

सूत्रेण बद्धो हि यथा विहगो
व्यावर्तते दूरगतोऽपि भूयः ।
अज्ञानसूत्रेण तथावबद्धो
गतोऽपि दूरं पुनरेति लोकः ॥
(सौन्दरनन्द ११।५९)

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो
दिशं दिशं पतित्वान्यत्रा
यतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते ।
छान्दोग्य उपनिषद् ।

इत्येवमादि स्थिरबुद्धिचित्त
स्तथागतेनाभिहितो हिताय ।
स्तवेषु निन्दासु च निर्व्यपेक्ष
कृताञ्जलिर्वाक्यमुवाच नन्दः ॥
अहो विशेषेण विशेषदर्शिन्
त्वयानुकम्पा मयि दर्शितेयम् ।
यत्कामपङ्के भगवन्निमग्न
स्त्रातोऽस्मि संसारभयादकामः ॥
भ्रात्रा त्वया श्रेयसि दैशिकेन
पित्रा फलस्थेन तथैव मात्रा ।
हतोऽभविष्यं यदि न व्यमोक्ष्य
सार्थात्परिभ्रष्ट इवाकृतार्थः ॥
सौन्दरनन्द (१८।३९–४१)

ततः स विस्मयाविष्टो
हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देव
कृताञ्जलिरभाषत ॥
(गीता, १४ १४)

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥
(गीता ११।४४)

अथ द्विजो बाल इवाप्तवेद
क्षिप्रं वणिक् प्राप्त इवाप्तलाभः ।
जित्वा च राजन्य इवारिसैन्यं
नन्दः कृतार्थो गुरुमभ्यगच्छत् ॥
सौन्दरनन्द (१८।१)

उत्तिष्ठ धर्मे स्थित शिष्यजुष्टे
किं पादयोर्मे पतितोऽसि मूर्ध्ना ।
अभ्यर्चनं मे न तथा प्रणामो
धर्मे यथैषा प्रतिपत्तिरेव ॥
(सौ० १८।२२)

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥
(गीता ११।३३)

अथ स्मृतिकवाटेन विधायेन्द्रियसंवरम् ।
भोजने भव मात्राज्ञो ध्यानायानामयाय च ॥
प्राणापानौ निगृह्णाति ग्लानिनिद्रे प्रयच्छति ।
कृतो ह्यत्यर्थमाहारो विहन्ति च पराक्रमम् ॥
यथा चात्यर्थमाहारः कृतोऽनर्थाय कल्पते
उपयुक्तस्तथात्यल्पो न सामर्थ्याय कल्पते ॥
आचयं द्युतिमुत्साहं प्रयोगं बलमेव च ।
भोजनं कृतमत्यल्पं शरीरस्यापकर्षति ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति
न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य
जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
गीता ६।१६।

यथा भारेण नमते लघुनोन्नमते तुला ।
समातिष्ठति युक्तेन भोज्येनेयं तथा तनुः ॥
तस्मादभ्यवहर्तव्यं स्वशक्तिमनुपश्यता
नातिमात्रं न चात्यल्पं मेयं मानवशादपि
अत्याक्रान्तो हि कायाग्निर्गुरुणा नेन शाम्यति ।
अवच्छन्न इवाल्पोऽग्निः सहसा महतेन्धसा ॥
अत्यन्तमपि संहारो नाहारस्य प्रशस्यते ।
अनाहारो हि निर्वाति निरिन्धन इवानलः ॥
यस्मान्नास्ति विनाहारात्सर्वप्राणभृतां स्थितिः ।
तस्माद्दुष्यति नाहारो विकल्पोऽत्र तु वार्यते ॥
सौ० १४।१-९।

युक्ताहारविहारस्य
युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दुःखहा ॥
गीता ६ १७।

भारस्योद्वहनार्थं च
रथाक्षोऽभ्यज्यते यथा ।
भोजनं प्राणयात्रार्थं
तद्वद्विद्वान्निषेवते ॥
सौ० १४।१२।

यथा वा पन अक्खं अब्भञ्जेय्य यावद एव भारस्स नित्थरणट्ठाय, यथा वा पन पुत्तमंसं आहारं आहारेय्य यावद एव कन्तारस्स नित्थरणट्ठाय, एव एवं भिक्खु पतिसङ्खा योनिसो आहारं आहारेति नेव दवाय।
महानिद्देस, पृ० २४१।

प्रक्लेद्यमद्भिर्वदनं
विलोक्य. सर्वतो दिशः ।
चार्या दृष्टिश्च तारासु
जिजागरिषुणा सदा ॥
सौ० १४।२४।

अद्दसा खो भगवा दिब्बेन चक्खुना विसुद्धेन अतिक्कन्त मानुसकेन आयस्मन्तं महामोग्गल्लानं मगधेसु कल्लवाल-मुत्तगामे पचलायमानं निसिन्नं दिस्वा, आयस्मतो महामोग्गल्लानस्स पमुखे पातुरहोसि ···निसिज्ज खो भगवा आयस्मन्तं महामोग्गल्लानं एतद अवोच पचलायसि नो त्वं मोग्गल्लान पचलायसि नो त्वं मोग्गल्लाना।
अगुत्तर, ८ ८५।

द्वितीय सर्ग

राजा शुद्धोदन, सिद्धार्थ और नन्द का जन्म : सिद्धार्थ का निष्क्रमण

कालक्रम से उस वर्द्धमान वैभव सम्पन्न शाक्यवंश मे बल-विक्रम संयुत, विभूति भूषित इन्द्रियजित शुद्धोदन नामक राजा हुए जो अनासक्त और अनुद्धत थे। उन्होने धैर्यपूर्वक प्रतिज्ञाओं की रक्षा की जैसे घोड़े धुरे को प्रसन्न मन से वहन करते हैं। भूपित की पराकाष्ठा उनके हृदय मे जम गयी थी। उनके सुन्दर व्यवहार से प्रजाए सफल रक्षण से रक्षित होकर पितृक्रोड मे शिशु की भाँति विश्वस्त हो सुख की नीद लेती थी। राजा ने अपनी बुद्धि को धर्म के लिये उत्प्रेरित किया, कीर्ति कौमुदी के प्रसार के लिये नहीं। वह अपने रग रूप मे रुपहले चाँद की तरह प्रजाओ को लुभाया करता था। उपकारियों को वह स्निग्ध दृष्टि से देखता था तथा श्लक्ष्ण वचन मे अभिषिक्त करता था। उसने अपने शत्रुओं को उसी तरह नष्ट कर दिया जिस तरह आदित्य दीप्ति से तमस्तोम को। दीप्त यशोदीप से उसने पृथ्वी को दीपित किया। अपने गुणो मे वह शाक्यराज शुद्धोदन शक्रवत् मालूम पड़ता था। तदनन्तर धर्मदिदृक्षु देवगण धर्माचरण परिदर्शन हेतु संसार मे परिचरण करने लगे। उन लोगो ने उस धर्मवत्सलनराधिप को देखा। तब तुषित देवों की टोली से बोधिसत्व उस राजा क वश मे उद्भूत होने को पृथ्वी पर उतरे। वह माया नामक राजा की पत्नी के गर्भ मे प्रविष्ट हो गये। कुछ दिन बाद जब व उत्पन्न हुए तो आकाश से टटके फूल ऐसे गिरने लगे, मालूम पड़ा कि चित्र रथ के महीरुहों को दिग्गज अपनी सूढ़ों से कँपा रहे हो। वह सत्व विशेष यश की चोटी पर उसी तरह विराजा मानो धर्म मूर्तिमान् हो उठा हो। कुछ दिन बाद छोटी रानी से नन्द नामक पुत्र हुआ। वह आये मधुमास की तरह, उगे निरभ्र गगन मे चाँद की तरह तथा मूर्तिमान कामदेव की तरह शोभित हुआ। राजा शुद्धोदन दोनो पुत्रों के बीच उसी तरह शोभित हुआ जैसे हिमालय एवं पारियात्र के मध्य प्रकटित मध्यदेश। नन्द तो विषयों मे रमता रहा, लेकिन सर्वार्थसिद्ध कभी विषयो में न रमे। वे निर्लेप और अनासक्त थे। जीर्ण, आतुर और मृत को देखकर उन्होने दु खित और विषण्ण चित्त हो संसार को असार समझा। उद्वेग के कारण मन को उन्होंने निर्वाण में लगाया, और एक रात चुपके से अपनी प्राणप्रिया को छोड़कर ससार से विदाई ले ली, जैसे सरसिज-विगत सरोवर से कलहस।

तृतीय सर्ग

कपिलवस्तु से निष्क्रमण के बाद सिद्धार्थ वन को चले और तपस्या मे प्रवृत्त हुए, लेकिन उनका मन तपस्या मे पूर्णत: रम न सका। तब उन्होने

मोक्षवादी उद्रक की उपासना की, परन्तु उन्होंने उसे भी असत्य समझकर छोड़ दिया। परमतत्त्व की ऐषणा में अचलधृति सिद्धार्थ अश्वत्थ महीरुह के सन्निकर्ष ही बैठ गये। धृतिदक्ष सिद्धार्थ ने मार की उग्र सेना को जीत कर अविनाशी नित्य तत्त्व को जाना। तत्त्ववित् भगवान् बुद्ध धर्मचक्रप्रवर्त्तन के लिये वाराणसी गये, वहाँ उन्होंने सर्वप्रथम कौण्डिन्य को दीक्षित किया। तदनन्तर उन्होंने काशी, गया, गिरिव्रज मे बहुत से लोगो को दीक्षित किया और तब पितृनगर मे भी अनुग्रह की इच्छा से गये। वहाँ जाकर उन्होंने उगते हुए सूर्य की तरह सबके हृदय मे अन्तरित कल्मष को नष्ट कर दिया। राजा शुद्धोदन तथागत को आया जानकर उत्सुकता से कुछ घोड़ो के साथ बाहर आये। शुद्धोदन को देखकर वे आकाश मे उड्डीन हो गये। जब बुद्ध ने उन्हे धर्मभाजन समझा तब उपदेश किया और नगरवासियो को भी दीक्षा दी। अप्रव्रजितो ने भी उनकी देशना ग्रहण की, परमकल्याणकारी दश कुशलकर्मों को अपनाया और कर्म के नियत फल की निर्णीति को जाना।

चतुर्थ सर्ग

कपिलवस्तु मे भगवान् बुद्ध अपनी धर्म-देशनाओ के प्रचार मे सलग्न थे, लेकिन कामकामी नन्द अपनी प्रिया के प्रेम मे बँधा था। उसका प्रेम चकवा-चकवी के समान गाढानुबद्ध था। एक दूसरे के अभाव में वे रात्रि और चन्द्र की नाई शोभित नहीं होते थे। रूप के अनुरूप चेष्टा चेष्टित वे दोनो एक अनूठी जोडी के रूप मे प्रतिष्ठित थे। दोनो अपनी रूप-शोभा से एक दूसरे को चुनौती दिया करते थे। सुन्दरी का मुख सौन्दर्य का साकार स्वरूप था तमाल-पत्रों से युक्त उसका मुख जिसका ओष्ठ ताम्रवर्ण का था, उस शैवलयुक्त कमल के समान शोभता था जिसके रक्तिम अग्रभाग पर कजरारे भौंरे बैठे हो। विमानकल्प प्रासाद मे जब नन्द अपनी प्रियतमा के साथ रतिकेलि कर रहा था, तब तथागत ने अपना भैक्षकाल समझ कर भिक्षा हेतु उसके वेश्म में पाँव रक्खे। सबै कार्यरत देखकर वे वहाँ से प्रत्यागत हो गये। नन्द, यह जानकर कि बुद्ध बिना भिक्षा पाये यहाँ से निवृत्त हुए, कम्पायें कल्पवृक्ष की नाई काँपने लगा। उसने अपनी प्रिया से आज्ञा माँगी और वह भगवान् बुद्ध के दर्शन के लिये चल पड़ा। चिन्तित हो सुन्दरी निश्चल आँखों से उसे देखती रही। नन्द भी उसको निश्चल नेत्रों से निहारता रहा। एक ओर नन्द को तथागत की भक्ति खीच रही थी, दूसरी ओर अपनी प्रिया का पावन प्रेम। अनिश्चय के कारण वह तरंगों पर संतरण करने वाले राजहंस की तरह न तो जा ही सका और न ठहरा ही।

पञ्चम सर्ग

नन्द के प्रासाद से निकल कर जब भगवान् बुद्ध पण्यपथ मे आये, उस समय जनसमूह कोलाहल से घिरा था। भगवान् बुद्ध का दर्शन करने के लिये जनता की बाढ़ उमड आयी थी। सब लोग विनत भाव से भगवान् की अर्चना कर रहे थे। भक्तजनो से राजपथ इतना आकीर्ण हो गया था कि भगवान की गति अवरुद्ध हो जाती थी। नन्द को वहाँ तक पहुँचने मे काठिन्य का अनुभव हो रहा था। जब भगवान् पण्य-पथ का परित्याग कर निर्जन मार्ग पर आरूढ़ हुए तब नन्द को भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हुआ। उसने जाकर तथागत से क्षमा माँगी और अपने घर चलने की शतकोटि प्रार्थनाएँ कीं। भगवान् बुद्ध ने कामकामी समझ कर उसे अपने धर्म मे दीक्षित करने के लिये उद्‌बुद्ध किया। नन्द अपनी प्रिया के पाश मे इस तरह जकड गया था कि वहा से निकलना उसके लिये बहुत कठिन था। महाकारुणिक भगवान् बुद्ध ने उसे कामवासना से विमुख किया और चचल मन को सयत करने का उपदेश दिया। जब नन्द को ससार की असारता दीख पडी तब उसने भगवान् से प्रव्रजित होना स्वीकार किया। तत्पश्चात् वैदेहमुनि ने छत्रमिभ उसके अलकजाल का अपहरण किया और चीवर से भूषित कर दिया। चीवरभूषित नन्द कृष्णपक्ष के बालातप रजित पूर्णचन्द्र के समान शोभित हुआ।

षष्ठ सर्ग

प्रिय की प्रतीक्षा में सुन्दरी एकटक निहारती रही, लेकिन प्रियतम का दर्शन न हो सका। उसके हृदय में बेकली बढती गयी, विरह का सन्ताप तीव्रतर होने लगा। वह निष्प्रभ हो सौन्दर्यहीन लता की तरह छिन्न भिन्न हो गयी। प्रिय के वियोग में वह रोने मे कबूतरो को भी मात करने लगी। अन्त पुर का वातावरण शोकमग्न हो गया, स्वामिनी की दुरवस्था देख कर अन्त पुर की रमणियाँ विकल चित्त हो गई। सब ने उसे समझाया, पर उसका शोकसविग्नमन शान्ति नहीं पा सका। वह रोती पीटती रही, क्षण क्षण बिलखती रही। वह अपने पति को दोषी कहने लगी तथा अनेक प्रकार की आशङ्काएँ करने लगी। सखियो ने उसे राजवधू कह समझाया कि ऐसे सभ्रान्त पति पर दोषारोपण करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। तुम्हारे विना उनके हृदय में शान्ति नहीं होती, भले उसे लक्ष्मी ही क्यो न मिल जाय। तुम तो उनकी चेतना हो। भला, चेतना के विना कोई जीवित रह सकता है? वे तुझे अवश्य मिलेंगे। अतः तुम शान्ति धारण करो।

सप्तम सर्ग

नन्द विधिपूर्वक प्रव्रजित तो अवश्य हुआ लेकिन उसकी चेतना आकुल रही। उसने परिव्राजक के सभी लिङ्ग धारण किये, लेकिन शरीर से मन से नही। उसका बाह्यरूप तो त्यागी का अवश्य था लेकिन आभ्यन्तरिक रूप विषयासक्त गृही का। उसे किसी भी अवस्था मे प्रियतमा के बिना आनन्द नही मिला। वसन्त और कामदेव के निर्वैर अभिसार ने उसके चित्त को और भी चचल कर दिया। कामदेव के सार्वत्रिक प्रसार से उसके चित्त मे विकलता हो गई। भ्रमरसेवित सहकारकुज में उसने अपनी प्राणप्रिया का दर्शन किया। तिलक वृक्ष के पुष्पाभिमण्डित शिखर पर आसन्न कोकिला को देखकर उसने धौत धवल मार्गाट्ट पर बैठी श्वेतवसना सुन्दरी की ऊर्ध्वबद्ध केशपाश की स्मृति की। वसन्तकालिक सभी उद्दीपक तत्त्वो से उसे अनाकर्षण हुआ। किसी ने उसके मन पर सम्मोहन या काम नही किया। उसने तपस्या को कठिन समझा और वह अपनी प्रिया के लिये वियोगविह्वल होने लगा। कामदेव ने उसके हृदय को मथ डाला। भला, वसन्तकालिक प्रसरित सौन्दर्य को देखकर किसे धृति रह सकती? उसके धैर्य का अचल सेतु भी टूट गया। उसने सोचा कि जब देवर्षियो का धैर्य अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गया तो मेरी क्या गणना। *वह अपनी सफाई देकर कहने लगा कि चचल पुरुष को भिक्षुवेष धारण करना* उचित नही। भिक्षापात्र लेकर, सिर मुडा कर काषाय का परिधान और मान को छोड़कर—जो पुरुष धैर्य नही धारण करता वह तो लिखित चित्रप्रदीप के समान है। ऐसा कहकर वह पुन गृहोन्मुख होने की चेष्टा करता रहा।

अष्टम सर्ग

जब नन्द अधीर हो घर जाने की उत्सुकता के कारण विलाप कर रहा था, उस समय एक श्रमण वहाँ सचरण करता हुआ आया और उसके सन्निकट जाकर कल्याण दृष्टि से बोला—"भाई, तुम्हारा अश्रुसिक्तमुख तेरे हृदय की भावनाओ को अभिव्यक्त कर रहा है। तुम अधीर क्यों हो रहे हो? धैर्य का अवलम्बन करो। शान्ति और शोक एक स्थान मे अच्छे नहीं भाते। मानसिक और शारीरिक दो प्रकार की वेदना होती है। चिकित्सक भी दो प्रकार के होते है। तुझे कौन रोग है? यदि दैहिक है तो वैद्य को दिखाओ और यदि *मानसिक है तो उसकी चिकित्सा मैं करू"*। *नन्द ने कुछ कहना चाहा लेकिन* कह न सका। फिर भी अपनी बातों का गोपन उसे अच्छा नहीं लगा। उसने किसी प्रकार अपने मन की बात कही और सहायता की जिज्ञासा प्रकट की। नन्द का मन अपनी प्रिया के बिना चचल था। श्रमण ने नारी और काम-

वासना की निन्दा कर उसके मन को विमुख करने की सफल चेष्टा की। उसने कहा कि स्त्री का ससर्ग सभी अनर्थों का कारण है, अतएव उसको उपभोग्य कभी नही समझना चाहिए।

नवम सर्ग

भिक्षु के उपदेश का नन्द पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वह पहले जैसा ही अशान्त और अन्यमनस्क बना रहा। वह अपने बाल और यौवन के गर्व से आक्षिप्त था तथा गृह–प्रयाण के लिये चेष्टा कर रहा था। भिक्षु ने उसके कार्यकलापो को देखकर पुन: उपदेश किया कि हे नन्द, जिस यौवन और रूप का अभिमान तुम कर रहे हो, वह अनार्य और क्षणिक है। यौवनवलित शरीर जो आज तुम्हारे सामने दीख रहा है, वह कल जरा–जर्जर और जीर्ण–शीर्ण हो जायगा इस क्षणभगुर ससार मे केवल धर्म ही मगलमय है। विषय वासना से बल की हानि होती है। अतएव उसकी रक्षा के लिये सदाचार, शील, विनय और सयम का आश्रय ग्रहण करो। जगत् जरा और मृत्यु का वशवर्ती है। जिसने बलवीर्य का अहकार किया, मिट गये। मोक्षधर्म का सेवन ही सत्य है और ससार की सारी वस्तुएँ मिथ्या एव क्षणिक हैं। श्रमण के वचन से नन्द को न शान्ति मिली और न उन्मत्तता गयी। तदनन्तर नन्द की कथा को श्रमण ने बुद्ध के निकट प्रकट किया।

दशम सर्ग

नन्द अपने सद्व्रत की ओर अग्रसर नहीं हो रहा था, अतएव बुद्ध अधिक साहसिक योजना बनाते हैं। भगवान् बुद्ध आकाशमार्ग से नन्द को स्वर्ग ले जाते हैं और मार्ग मे एक कुरूप बन्दरी को दिखाकर उससे पूछते हैं कि क्या सुन्दरी इससे अधिक सुन्दर है। नन्द दर्पपूर्वक अपनी प्रियतमा सुन्दरी के सौन्दर्य का विशेष रूप प्रतिष्ठा करता है. किन्तु अप्सराओ के दर्शन के पश्चात् उसे मानना पड़ता है कि ये अप्सरायें सुन्दरी से अधिक छविमान और दीप्तप्राण हैं। अपनी चपलबुद्धि के कारण वह अप्सरा को पत्नी रूप मे ग्रहण करने की इच्छा करता है लेकिन भगवान् उसको चेतावनी देते हैं और कहते हैं कि यदि तुम अप्सरा को अपनी प्रियतमा के रूप मे स्वीकार करना चाहते हो तो स्वर्ग पर विजय प्राप्त करो।

एकादश सर्ग

अप्सराओं से निवृत्त होकर नन्द ने अपने मन को सयत कर धर्माचरण आरम्भ किया। वह अभीष्ट की प्राप्ति के लिये सफल चेष्टा करता है। आनन्द उसे उपदेश देते हैं कि यदि तुमने अपने मन को सयत किया है तो यह

धर्मानुकूल कुल के अनुरूप है। वह स्वर्ग को अस्थायी समझकर उसे छोडना चाहता है। सभी लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिये तपस्या करते हैं, लेकिन पुण्य के क्षीण हो जाने पर वहाँ से पदच्युत हो जाते हैं। अतएव स्वर्ग की प्राप्ति हितकर नही है। तुम उस अजरअमर पद की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य का आचरण करो जो निःशोक और त्राणशील है। चंचल स्वर्ग की अभिलाषा नैश्रेयस् पद की अवाप्ति मे बाधक है।

द्वादश सर्ग

नन्द को विवेक प्राप्त हुआ और वह कामराग से निवृत्त होकर स्वर्ग की कामना से विरत हो गया। अब उसे सांसारिक वस्तुओ के प्रति राग नही होता। गुरु की सेवा मे उपस्थित होकर उसने कृताजलि हो प्रणाम किया और गद्गद् स्वर मे कहा 'भगवान्, अप्सराओ की प्राप्ति के लिये आप मेरे प्रतिभू है। मुझे उन अप्सराओ की वांछा नही है' इसके बाद बुद्ध ने कहा—दुःख का आत्यन्तिक अभाव ही सुख है। अतएव इसकी प्राप्ति के लिये श्रद्धा का साहाय्य लो। श्रद्धा चेतना का संप्रसाद है अतएव श्रद्धा के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। जिसका निश्चय दुर्बल है, उसकी श्रद्धा स्थायी नही होती और ऐसी श्रद्धा मे कोई कार्य सिद्ध नही होगा। अतएव श्रद्धा का अवलम्ब धारण करो।

त्रयोदश सर्ग

इस सर्ग मे शील और इन्द्रिय सयम की बातो का विवेचन है। संसार मे जितने श्रेयस्कर कार्य हैं सभी का आश्रय शील है। शील से ही सभी क्रियाओ की प्रतिष्ठा है। मनुष्यो की इन्द्रियाँ अत्यन्त बलवती होती हैं–वह बलात मनुष्यो को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। अतएव उन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। चपलेन्द्रियाँ ही मनुष्य को चचल बनाकर मनुष्य को शान्ति और श्रेय से विमुख कर देती हैं। विषयो की मिथ्या कल्पना से मनुष्य सासारिक बन्धनो से जकड जाता है। अतएव सयमी को आवश्यक है कि वह प्रयत्नपूर्वक अपनी इन्द्रियो का निग्रह करे। कुछ काल के लिये भी प्रमाद को आश्रय देना श्रेयस्कर नही। सदा मनुष्य को अमगल प्रेरणाओ और संकल्पजनित कल्मषपूर्ण विचारो से सावधान रहना चाहिए।

चतुर्दश सर्ग

धर्मचारी नन्द क्रमशः अपनी इन्द्रियों पर विजय पाता गया और कुछ काल बाद वह योग के पथ पर आरूढ़ हो गया। नन्द का चित्त निर्मल हुआ

और उसकी भावना में शुद्धता का समाहार हो गया। भगवान् बुद्ध ने उसे युक्ताहारविहार का उपदेश दिया और बताया कि योग के लिये भोजन की मात्रा का ज्ञान आवश्यक है। नियमित और संतुलित भोजन ही योग के लिये उपयुक्त है। योग की सभी बातों का उल्लेख करके नन्द को उसके लिये भगवान् बुद्ध ने उद्बुद्ध किया। तत्पश्चात् स्मृति के महत्त्व की ओर उन्होंने निर्देश किया भगवान् ने कहा कि स्मृतिहीन मनुष्य विषयों के अन्धकार में भटकता रहता है। जिसकी स्मृति नष्ट हो जाती है उसका श्रेय भी च्युत हो जाता है। तात्पर्य यह कि उसका सन्मार्ग भी नष्ट हो जाता है।

पञ्चदश सर्ग

इसमें अकुशल वितर्कों के परिहार के लिये सत्य मार्ग का निर्देशन किया गया है। यदि मन में किसी प्रकार का अकुशल वितर्क उत्पन्न हो जाय तो उसका उन्मूलन करना ही श्रेयस्कर है और यह उन्मूलन विरोधी भावों द्वारा ही हो सकता है। काम की भावना से योगी को विरत रहना चाहिए असूया और आसक्ति का सर्वथा परित्याग करना चाहिये। ये सब निर्वाण के बाधक हैं।

षोडशसर्ग

इसमें आर्य सत्य, ध्यान सिद्धि के साधन और वीर्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है ध्यान से मन की एकाग्रता प्राप्त होती है और सिद्धि के साधन से निर्वाण का दर्शन होता है। सभी कार्यों के मूल में वीर्य की उपादेयता है। बिना वीर्य के किसी भी कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। निर्वीर्य पुरुष को अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है अतएव वीर्य की अप्रतिम प्रतिष्ठा है।

सप्तदश सर्ग

नन्द ने योग साधन का साहाय्य लिया और उसे अर्हत्व की सम्प्राप्ति हुई। मोक्षानुकूल विधियों के द्वारा उसने अपने अकुशल वितर्कों का त्याग किया और यत्नवान् योगी की तरह आर्य पथ का दर्शन कर शान्ति सुख की ओर उन्मुख हो गया। जब वह भगवान् बुद्ध के उपदिष्ट देशनाओं के द्वारा अर्हत्व की प्राप्ति कर मुक्त हो गया और उसकी सभी तृष्णाओं का शम हो गया तब वह अपने शास्ता के समीप आकर कृतज्ञता ज्ञापित करने लगा। उसने कहा—जिस नन्द को भगवान् ने मोहपंक से उद्धार कर निर्वाण पथ की ओर अग्रसर किया, उसे नतमस्तक हो विनीतभाव से मैं बारबार प्रणाम करता हूँ।

अष्टादश सर्ग

कृतार्थ होकर नन्द भगवान् तथागत के दर्शन के लिये गया। उनके समीप जाकर वह विनीत स्वर मे अपना हृदयोद्गार प्रकट करता है। वह कहता है कि हे भगवान् मैंने अपना सम्पूर्ण कार्य समाप्त कर लिया, अब मैं लोक-धर्म से लिप्त नही हूँ भगवान् उसे साधुवाद देते हैं और वे कहते हैं कि तुम ने अपना जन्म सार्थक कर परम शान्ति पद को प्राप्त कर लिया। मैं जिस रूप मे तुम्हे देखना चाहता था आज तुम्हे उसी रूप मे देख रहा हूँ। तदनन्तर भगवान् उसे दूसरो को कल्याण पथ पर ले चलने की आज्ञा देते हैं, क्योंकि श्रेष्ठ मनुष्य वही है जो उत्तम नैष्ठिक धर्म की प्राप्ति कर दूसरों को भी सद्धर्म का उपदेश करता है। अतएव हे नन्द तुम नगरो मे जाकर अपने प्राप्त ज्ञान का प्रसार करो। नाना विषयों से विरक्त होकर स्थिर मन वाला तुम्हें जानकर तुम्हारी पत्नी भी तुम्हारा अनुकरण करती हुई स्त्रियों के मध्य विरागिणी कथा कहेगी।

सौन्दरनन्द काव्य का प्रभाव

महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्द काव्य के कथानक के आधार का निर्देश नहीं किया है। नन्द का कथानक पालि साहित्य के उदान तथा जातक मे उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त नन्द के कथानक का एक और प्रभव है। वैदिक धर्म में जो श्रेष्ठता श्रीमद्भगवद्गीता को प्राप्त है, वही बौद्धधर्म मे धम्मपद को। धम्मपद की महत्त्वपूर्ण व्याख्या अट्ठकथा है। इस अट्ठकथा की विशेषता इसके मर्मस्पर्शी उपाख्यान हैं प्रत्येक गाथा किसी न किसी उपाख्यान से सम्बद्ध कर ही अट्ठकथा लिखी गयी है। धम्मपद की १३–१४ गाथा को जिस उपाख्यान से सम्बद्ध किया गया है वह सौन्दरनन्द काव्य का प्रभव हो सकता है। सौन्दरनन्द के कथानक और अट्ठकथा में दिये गये नन्द के उपाख्यान मे यद्यपि कुछ भिन्नता है परन्तु उसे सौन्दरनन्द काव्य का प्रभव मानने मे कोई दुष्करता नही है।

धम्मपद की गाथा का क्रम इस प्रकार है—

यथा अगारं दुच्छन्नं वुट्ठि समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति।
यथा अगारं सुच्छन्नं वुट्ठि न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति॥ धम्मपद-१३ १४

जिस प्रकार आगार की दुर्बल छाजनी मूसलाधार वर्षा के जल को नही रोक पाती उसी प्रकार अभावित चित्त राग का समतिक्रमण नहीं कर सकता।

जैसे अच्छे ढग की बनी छाजनी के अभ्यन्तर जल का प्रवेश नहीं हो सकता तथैव भावित चित्त को राग मलिन नहीं बना सकता। धम्मपद की अट्ठकथा मे इन्ही भावो को नन्द के कथानक का आश्रय लेकर उपदेष्टा ने पुष्टि की है। इसका पहला पद्य नन्द के अर्हत्व प्राप्ति के पूर्व की अवस्था के द्योतन के लिये कहा गया है, और दूसरा समाधि की प्राप्ति के बाद की अवस्था को बताने के लिये कहा गया है।

थेरगाथा मे हम नन्द को इस प्रकार कहते पाते हैं। ये पक्तियाँ नन्द ने उस समय कही हैं जब वह अर्हत्व के परम पद को प्राप्त कर चुका था।

पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

अयोनिसोमनसिकारा मण्डन अनुयुञ्जिस।
उद्धतो चपलो चासि कामरागेन अट्ठितो।
उपायुक सलेनाह बुद्धेनादिच्चबन्धुना।
योनिसो पटिपज्जित्वा भवे चित्त उदब्बहिन्ति। थेरगाथा—१५७-१५८।

नन्द की प्रियतमा सुन्दरी का उल्लेख हम पालि साहित्य में पाते हैं। भगवान् बुद्ध के द्वारा धम्मपद मे सुन्दरी के प्रति ये पक्तियाँ कही गयी हैं।

अट्ठिन्न नगरं कत्वा मसलोहितलेपन।
यथा जरा च मच्चू च मानो मक्खो च ओहितो। धम्मपद, १५०।

सुन्दरी अपने सौन्दर्य के कारण नगरवासियों के द्वारा रूपानन्दा, सुन्दरीनन्दा और जनपद कल्याणी कही जाती थी। महाकवि अश्वघोष ने भी सौन्दरनन्द के चतुर्थ सर्ग में कहा है कि शोभा और सौन्दर्य के कारण वह सुन्दरी, कहलाई आग्रह और गर्व से उसे मानिनी का उपपद मिला, दीप्ति और मानने से वह भामिनी के विरुद से अलकृत की गयी। इस प्रकार उस स्वल्पप्राण सुन्दरी के तीन नाम थे। ऊपर की पक्तिया सुन्दरी की कहानी का आश्रय लेकर अट्ठकथा मे विवेचित है।

इस लघुकाय कथानक के आधार पर कवि ने अपनी प्रौढ प्रतिभा से १८ सर्गो का एक वृहत् काव्य निर्मित किया है। किसी भी कवि या कलाकार की यह उन्मुक्तता है कि वह अपनी कल्पना का विशद प्रयोग करे। अश्वघोष ने भी यही किया है। कथा को मौलिकता प्रदान करने तथा उसमे कल्पना की रंगीनी भरने के लिये कवि ने अपनी ओर से अनूठी बातें जोड दी हैं। सर्वप्रथम कवि ने कपिलवस्तु का वर्णन कर उसकी प्राचीनता तथा धार्मिकता का द्योतन करना चाहा है। तदनन्तर राजा शुद्धोदन की राज्यनीति एव धार्मिक कृत्यों का वर्णन है। पुन बालक सिद्धार्थ और नन्द के जन्म का वर्णन है,

यह वर्णन अतीव शोभन और मनोरंजक है। तृतीय सर्ग से लेकर दसवें सर्ग की जो वर्णना है, वह कवि की अपनी देन है। चतुर्थ सर्ग मे कवि ने शृङ्गारात्मक जीवन-चित्र आका है वह अपने मे पूर्ण और प्रभावक है। इस सर्ग के पीछे कवि का एक उदात्त उद्देश्य है, और वह उद्देश्य है शृङ्गार का वर्णन कर विराग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना। दसवें सर्ग से लेकर अठारहवें सर्ग तक तो कवि बौद्ध-धर्म एव दर्शन के तत्वो को ऋजुसरल एव सुकर-शैली मे उपनिबद्ध करता है। यह धर्म दर्शन का वर्णन यद्यपि उतना रुचिकर नही है, फिर भी शैली की मनोहरता के कारण पाठक इसे अनायास बिना श्रान्ति का अनुभव किये पढ़ लेता है।

महाकवि का यह प्रयास रहा है कि जन सामान्य भी भगवान् तथागत के धर्मों का अनुश्रवण कर कृतार्थ हो। उनका यह काव्य सद्धर्म एव शक्ति की प्राप्ति के लिये ही है, रति तथा आनन्द के लिये नही। महाकवि अश्वघोष की इस उदात्त-धारणा मे सम्पूर्ण सस्कृति की दिव्य-लेखा समाहित हो गई है।

तृतीय अध्याय

रस-विवेचन, अलंकार योजना, काव्य-कला और भाषा-सौन्दर्य, छन्द योजना

रस-विवेचन

कविता अनुभूति का मूर्त्त रूप है जिसमें कवि के संवेदनशील भावसंवेगों का स्फूर्त्त प्रवाह प्रसवित होता है। अनुभूति का सम्यक् भावन कर कवि उसके अन्तस्तल मे वर्त्तमान अप्रतिम सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करता है। और यह प्रत्यक्षीकृत सौन्दर्य कला है। कला के सर्वोत्तम रूप में काव्यकला की सर्वमान्य प्रतिष्ठा है। इस काव्यकला के निर्माण में अनुभूति और अभिव्यक्ति दो पक्ष होते हैं, जिसे दूसरे शब्दों मे भाव-पक्ष और कला पक्ष कहते हैं। काव्यकला दोनों पक्षो की अप्रतिम समन्विति मे पूर्णरूप मे अभिव्यंजित होती है। ऋजु कोमल अनुभूत भावों के प्रकाशन के लिये सहज चेतना से स्पंदित भाषा का यौक्तिक समाहार अपेक्षित है। भाव और भाषा जब एक दूसरे के परस्पधि समभाव होकर समसंतुलित हो जाते हैं तभी प्रांजल कविता की निर्मिति सार्थक मानी जाती है, साथ ही यदि उसमें अभिव्यंजना का सौन्दर्य समन्वित हो जाय तब तो वह साहित्य की अनुपम वस्तु बन जाती है।

शास्त्रीय परम्परा के अनुसार काव्य में रस अलंकार, रीति छन्द आदि की विचारणा होती है। संस्कृत-साहित्य में रस को काव्य की आत्मा घोषित किया गया है।[1] रस मे ही हृदय को चिरशान्ति की प्राप्ति होती है। रस की आनन्दानुभूति ब्रह्मानन्दसहोदर की अनुभूति के समान अप्रतिम है। रस सहृदय के हृदय का प्राणवन्त संवाद है। रस की संयोजना में कवि को अवधानवान होना चाहिए।[2] रस के परिग्रह से काव्य के अर्थ में उसी प्रकार नवता आ जाती है जैसे मधुमास के आगमन से वृक्षों में नयी शोभा के समवेत होने के कारण वे अभिनव प्रतीत होते हैं।[3] आचार्य कुन्तक ने भी लिखा है कि क्या

---

१ वाक्य रसात्मक काव्यम्। साहित्यदर्पण पृ० १७।

२ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान्॥ ध्वन्यालोक। ४।५।

३ दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्येरसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा, इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा। ध्वन्यालोक। ४।४।

मात्र आश्रित होकर कवि की वाणी नही जीती है, उसे तो निरन्तर रसोद्गार-गर्भनिर्भर होना चाहिए [1] अस्तु ।

महाकवि अश्वघोष रस को साध्य न मानकर साधन मानते हैं, जब कि कविकुलगुरु कालिदास साध्य मानते हैं । यही कारण है कि अश्वघोष की अपेक्षा कालिदास की कविताओ मे आह्लादकता तथा रसमयता अधिक है । फिर भी अश्वघोष ने रस की अप्रतिम मधुरता का हृदयग्राही रूप प्रतिष्ठित किया है । कवि के काव्य का लक्ष्य बौद्ध धर्म के रूखे सूखे एवं दुरूह विचारो का सम्प्रेषण है । एतदर्थ इस महत्कार्य के लिये ही उन्होने रसपेशल काव्य का सहारा लिया । कविता मे भावो को उद्बुद्ध करने तथा सहृदय के मन को सद्य आवर्जित करने की अप्रतिम क्षमता होती है । कान्तासम्मित उपदेश काव्य के माध्यम ही संभव है, अतएव महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्द की रचना धार्मिक उपदेशो को शीघ्र ही ग्रहण करने के लिये मोक्षधर्म के तत्वों को काव्यधर्म के आश्रय से अभिव्यक्त किया है ।[2]

यद्यपि यह मोक्षार्थगर्भा कृति है फिर भी इसमे कवि ने काव्य की सभी परम्पराओ, रूढ़ियो और मान्यताओं की सफल अभिव्यंजना की है । रस के बिना तो किसी वस्तु का प्रवर्तन सम्भव नही है, अतएव अश्वघोष ने काव्य मे रस की अनिवार्यता को हृदय से स्वीकार किया है रस के क्षेत्र मे भी उन्होने अपूर्व रस का सचार किया है, जिससे उनकी काव्य भारती की आत्मा पूर्णत. रसभरित और अभिषिक्त हो गयी है । यद्यपि अश्वघोष शान्त रस के कवि हैं, फिर भी शृङ्गार करुण एव वीर इत्यादि रसो का उन्होने मनोयोग से वर्णन किया है ।

सर्वप्रथम हम शृङ्गार रस का विवेचन करेंगे, क्योकि सभी रसो मे शृङ्गार की प्रधानता है । ध्वन्यालोक क रचयिता आनन्दवर्धन ने रस की सर्वमान्यता घोषित की है और कहा है कि सबसे प्रह्लादक और मधुर रस शृगार ही है, तथा इसी से काव्य मे माधुर्य की प्रतिष्ठा होती है ।[3] शृङ्गार रस मे नायक और नायिका के बीच की द्वयता मिट जाती है और दोनो में समान समाकर्षण

---

१ निर तरसोद्गारगर्भनिभरा ।
गिरः कवीना जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता ।। वक्रोक्तिजीवित, उन्मेष ४।

२ प्र.मोक्षात् कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं ।
पातु तिक्तमिवौषध मधुयुत हृद्य कथ स्यादिति । सौ० १८।६३ ।

३ क शृङ्गार एव मधुर' परः प्रह्लादनो रसः ।
त.मय काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति । ध्व यालोक २।७ ।

होता है । इसमें एक दूसरे की प्रीतिमुग्ध भावना का आस्वादन वे उच्छल हृदय से करते हैं साथ ही दोनों के बीच अनुभूति की तीव्रता और तन्मयता की व्यापकता बढ़ जाती है । अश्वघोष दार्शनिक कवि होते हुए भी शृङ्गार रस के अन्यतम परिचेता हैं । उनके शृङ्गार चित्रों में भावात्मकता है तथा हृदय को स्पर्श करने वाली कोमल प्रभावोत्पादकता भी । अन्य कवियों जैसी उनके शृङ्गार चित्रों में विलासप्रियता और ऐन्द्रिकता नहीं है, उसमें मर्यादा की प्रतिष्ठा है । नख शिख वर्णन की उद्दाम मादकता की अपेक्षा हृदय को गुदगुदा देने वाली स्वाभाविक सरसता ही उसमें अधिक है । उनके शृङ्गार-चित्रों के भावों से सन्तृप्त होने के लिये कामशास्त्र का अध्ययन करना अपेक्षित नहीं है । वासनामय जगत् से ऊपर उठकर उन्होंने शृङ्गार के शुद्ध और हृदयावर्जक चित्रों को सँवारा है, जिसमें सौन्दर्य की मार्मिक अभिव्यक्ति निखार पा गई है । उनके शृङ्गार वर्णन में शाश्वत आनन्द की अमिय भावनाओं का कोमल दिग्दर्शन है, क्षणभर उद्दीपन पैदा करनेवाली कोरी अश्लील मादकता नहीं जिसमें वासना का दृप्त उभार दीखता है ।

अश्वघोष के आह्लादक शृङ्गार का दो चार कोमल चित्र देखें । इसमें उन्होंने संयोगकालीन जीवन की प्रेमार्द्र भावनाओं का आकलन किया है—

सा त स्तनोद्वर्तितहारयष्टिरुत्थापयामास निगृह्य दोर्भ्याम् ।
कथ कृतोऽसीति जहास चोच्चैर्मुखेन साचीकृतकुण्डलेन ॥ सौ० ४।१९

इस कविता में सुन्दरी ने नन्द को रिझाने के लिए कोमल शृङ्गार का प्रस्फुट वातावरण प्रस्तुत किया है । सुन्दरी नन्द को अपनी भुजाओं में जकड़ लेती है, उसके स्तनों के हार हिलने लगते हैं उसे वह ऊपर उठा लेती है और "कथ कृतोऽसीति" कहकर हँस देती है, मुस्कान की माधुरी बिखेर देती है और उसके चेहरे के तिर्यक् कुण्डल खिल उठते हैं ।

कलाकार की तूलिका ने इसमें मोहक रंग भर दिया है, प्राणों को रमा देने वाली वृत्ति का अनुपम संचार कर दिया है ।

नन्द अपनी मान किये बैठी प्रियतमा को रिझाने के लिये कैसी चेष्टा कर रहा है, इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

ततश्चलन्नूपुरयोवित्रताभ्यां नखप्रभोद्भासितराङ्गुलिभ्याम् ।
पद्भ्यां प्रियाया नलिनोपमाभ्यां मूर्ध्ना भयान्नाम ननाम नन्दः ॥ सौ० ४।१७

स शृङ्गारो हि संसारिणां नियमेन अनुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्य कमनीयतया प्रधानभूत. । ध्वन्यालोक ।

नन्द अपनी प्रार्थना को स्वीकृत कराने के लिये अपनी प्राणप्रिया सुन्दरी के चरणों पर मस्तक झुका देता है। सुन्दरी के चरणों की आभा कमलोपम थी, साथ ही क्वणित नूपुरों से नियन्त्रित एवं कोमल अंगुलियों की नखप्रभा से प्रोद्भासित थी। इतना हृदयग्राही सरस श्रृङ्गार की चित्राकृति मन मे अनायास आह्लाद उत्पन्न कर देती है।

नन्द और सुन्दरी दोनों सयोगकाल के गाढ़ोपगूहन में, आनन्दक्रीडा में, और रति विलास मे चिर आसक्त थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो वे प्रमोद और आनन्द के नीड एवं हर्ष और तुष्टि के पात्रभूत हों। एक की मनुहारमयी आँखें दूसरे के दर्शन मे अनिमेष लीन थी। उनके प्रसन्न चित्त मीठी मीठी बातें करने मे लगे थे। आलिंगन से अगराग पुछ गया था— उन दोनों की जोडी श्रृङ्गार की भावना से छकी और भरी पूरी थी—

> कन्दर्परत्योरिव लक्ष्यभूतं प्रमोदनान्द्योरिव नीडभूतं।
> प्रहर्षतुष्ट्योरिव पात्रभूतं द्वन्द्वं सहारंस्त मदान्धभूतं ॥ सौ० ४।८
> परस्परोद्वीक्षणतत्पराक्ष परस्परव्याहृतसक्तचित्त
> परस्पराश्लेषहृताङ्गराग परस्पर तन्मिथुन जहार ॥ सौ० ४।९।

सयोग-श्रृङ्गार के इन चारु चित्रणों के बाद विप्रलम्भ श्रृङ्गार की कलात्मक वर्णना अपेक्षित है। सयोग श्रृङ्गार की परिपुष्टि के लिये वियोग श्रृङ्गार का होना परम अनिवार्य है[1]। विरह की अवस्था मे प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के हृदय मे मानसिक मिलन की उत्कट आकाक्षा होती है। विरहावस्था की विशेषता ऐन्द्रिकता की न्यूनता में है। विरहाग्नि मे तपकर जीवन निष्कलुष और वासना मुक्त हो जाता है। विरह में ही प्रेम प्रकर्ष पाता है। प्रेम की सच्ची अवस्था प्रबल विरहासक्ति मे ही है[2]। कुछ सहृदयों का विचार है कि विरहकाल में प्रेम मे तीव्रता नहीं रहती है लेकिन कविकुलगुरु कालिदास इसके पक्षपाती नहीं हैं। उन्होंने लिखा है कि सयोग की अपेक्षा विरहकाल मे ही प्रेम उपचित रस होकर राशिभूत हो जाता है[3]।

महाकवि अश्वघोष ने विरहवर्णन मे अपनी रसात्मक और भावात्मक प्रतिभा का प्रतिस्फुरण किया है। नन्द और सुन्दरी के हृदय मे पल-पल उठने

---

१ न विना विप्रलम्भेन श्रृङ्गार पुष्टिमश्नुते। साहित्यदर्पण

२ ज्यों ज्यों विषम वियोग की अनल ज्वाल अधिकाय।
त्यों त्यों तिय की देह मे नेह उठत उफनाय ॥ मतिराम

३ स्नेहानाहु किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगात्
इष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशि भर्वान्ति ॥ मेघदूत पृ० ६६

४ सौ०

वाली तरंगित भावनाओं का उन्होंने अनुभूतिपूर्ण चित्र आँका है। सुन्दरी की वियोगदशा का एक मर्मस्पृक् चित्र देखें—

श्रुत्वा ततो भर्तरि तां प्रवृत्तिं सवेपथुः सा सहसोत्पपात ।

प्रगृह्य बाहू विरराव चोच्चैर्हृदीव दिग्धाभिहता करेणुः ॥ सौ० ६।२४।

सुन्दरी के श्रवण-पुटों में ज्यों ही दुःखद समाचार की मर्मस्पर्शी ध्वनि पड़ी, वह कम्पित हो उछली और भुजलताओं को फैलाकर विषाक्त तीर से घायल हृदयवाली करेणु के समान फूट-फूट कर रोने लगी। इसमें वियोग की चिन्ता-दशा का पूरा परिपाक हुआ है, साथ ही कारुणिक दशा की सफल विरहाग्नि-व्यंजना भी हुई है।

अश्वघोष ने स्मृति की अवस्था में अनेक भावतरंगों पर डोलती उतराती सुन्दरी की दशाओं का वर्णन किया है। वह पूर्वानुभूत सुखात्मक दृश्यों को याद कर तत्ती साँसें ले लेकर उच्छ्वसित हृदय से आहें भरती रहती है। वस्तुतः इसी वर्णन में अश्वघोष की कल्पना शक्ति एवं रसात्मक भावुकता पूर्णतः अभिव्यक्त हुई है। एक चित्र देखिये—

सचिन्त्य सचिन्त्य गुणांश्च भर्तुर्दीर्घं निशश्वास ततास चैव ।

विभूषणश्रीनिहिते प्रकोष्ठे ताम्रे कराग्रे च विनिर्दुधाव ॥ सौ० ६।२७।

इसमें वियोग-विह्वल सुन्दरी की करुणात्मक अवस्था की मार्मिक व्यंजना हुई है। वियोग की स्मृति, गुणों का कथन एवं मूर्च्छा तीनों दशाओं की स्निग्ध भावनाएँ साकार हो गई हैं; जिससे इस छन्द का सौन्दर्य और भी अतिशयित हो गया है।

सुन्दरी की विरहविक्षिप्त दशा का एक सवेगपूर्ण चित्र देखिये—

रुरोद मम्लौ विरराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ ।

चकार रोषं विचकार माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रं ॥ सौ० ६।३४

इस कविता के प्रत्येक शब्दों में विरह की वाणी को उत्कर्ष कोटि की अभिव्यंजना मिल गई है। शब्द स्वयं विरह की उत्कट तीव्रता को अभिव्यक्त कर रहा है। सुन्दरी के वियोग की मार्मिक झलक इन पंक्तियों में मूर्त हो गई है। प्रत्येक शब्द की अनुभूतिपूर्ण व्यंजकता विरह की ऊँचाई को स्पर्श कर रही है।

विरहकाल में तन्वंगी सुन्दरी की दशा कितनी दयनीय हो गई है इसका एक चित्र द्रष्टव्य है—

तस्या मुखं पद्मसपत्नभूतं पाणौ स्थितं पल्लवरागताम्रे ।

छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य बभौ नतं पद्ममिवोपरिष्टात् ॥ सौ० ६।११

पल्लव की लालिमा के समान ताम्रवर्ण हाथ पर सन्यस्त उस एकाकिनी का पद्मतुल्य मुख उस प्रकार शोभित हुआ, जैसे जल मे संक्रान्त कमल के प्रतिबिम्ब के ऊपर सौन्दर्य भार से झुका हुआ कमल। विरहकालीन सौन्दर्य का ऐसा मनभावन चित्रण अश्वघोष की कलाप्रभविष्णुता एवं सूक्ष्मदर्शिता का परिचायक है। इसमे अश्वघोष ने उन्मुक्त भाव लहरी और कोमल कल्पना का अनुभूति भूषित समाहार उपस्थित किया है।

अश्वघोष ने केवल सुन्दरी के ही विरह का वर्णन नहीं किया है अपितु नन्द के मर्मस्पृक् विरह का भी। अपनी प्रियतमा के अभाव मे नन्द चक्रवाकी से बिछुड़े चक्रवाक की नाईं कहीं भी आनन्द नहीं पा रहा है[1]। सौन्दर्य से विलसित वनस्थली भी उसे रिझा नहीं पाती। वह सुन्दरी के वियोग मे विह्वल हो विलाप करने लगता है। उसकी दशा तुरत पकड़े गये हाथी के समान हो जाती है यद्यपि वह महमह करते रसमय रसाल की मञ्जरियों से अभिषिक्त हो रहा है—

स पीतकक्षोदमिवप्रतीच्छन् चूतद्रुमेभ्यस्ततपुष्पवर्षं।
दीर्घं निशश्वास विचिन्त्यभार्यां नवग्रहो नाग इवावरुद्ध ॥ सौ० ७।

नन्द को प्रकृति उद्दीपन का स्वरूप जान पड़ती है फिर वह प्रकृति की अन्तश्चेतना मे अपने हृदय की भावनाओं का सामञ्जस्य पाता है। प्रकृति की मनुहारमयी वस्तुओं मे उसे अपनी प्रियतमा के दर्शन होते हैं—

प्रिया प्रियाया प्रतनु प्रियङ्गु निशाम्य भीतामिव निष्पतन्तीं।
सस्मार तामश्रुमुखी सबाष्प प्रिया प्रियङ्गुप्रसवावदाता ॥
पुष्पावनद्धे तिलकद्रुमस्य दृष्ट्वान्यपुष्टा शिखरे निविष्टा
सकल्पयामास शिखा प्रियाया शुक्लांशुकेऽट्टालमपाश्रिताया ॥
लता प्रफुल्लामतिमुक्तकस्य चूतस्य पार्श्वे परिरभ्य जातां।
निशाम्य चिन्तामगमत्तदैव श्लिष्टा भवेन्मामपि सुन्दरीति ॥ सौ० ७।६,७ ८।

इन पंक्तियों में स्मृतिदशा की मर्मस्पर्शी अभिव्यञ्जना हुई है। नन्द प्रकृति की वस्तुओं में अपनी प्रियतमा की बहुविध चेष्टाओं और रूपों की एकरूपता का दर्शन करता है। स्मृतिदशा का यह भावमय वर्णन वस्तुतः मन— प्राणों को छू लेता है।

साहित्य मे यों तो शृंगार का ही परम महत्त्व है किन्तु अनुभूति की व्यापकता को तीव्र कर उसे आस्वाद्य बनाने का श्रेय करुण रस को है।

---

१ सर्वासु वस्थासु लभेत शान्ति प्रियावियोगादिव चक्रवाक ॥ सौ०७।१७।

करुणा की रसविगलित भाव-सरणियों पर ही महाकवि वाल्मीकि के आदिकाव्य का शुभ सृजन हुआ था। इस दृष्टि से काव्य का आदि स्रोत करुणरस ही है। हृदयगत संवेदनशील शोकानुभूति का प्रकाशन जब भाषा के माध्यम होता है, तब करुण रस की सफल अवतारणा होती है। रसानुभूति हृदय की आर्द्रता और स्नेहवलित सहानुभूति की अपेक्षा रखती है और वस्तुतः जितनी मर्मस्पर्शिता और आर्द्रतरल भावना करुण रस में सम्प्राप्त है, उतनी कहीं नहीं। यही कारण है कि महाकवि भवभूति ने करुण रस को ही एक मात्र रस माना है[1]।

करुण रस का आविर्भाव वस्तुतः प्रियजन विप्रयोग से होता है अथवा प्रतिकूल वेदनीय वचनों के श्रवण से[2]। शोक में पलकें शिथिल हो जाती हैं। नील नलिनसी आँखें अश्रु-जल से डबाडब भर जाती हैं और नेत्र तारे अवरुद्ध हो जाते हैं[3]।

महाकवि अश्वघोष ने शान्त रस के साथ करुण रस के मर्म को भी पहचाना है। बुद्धचरित और सौन्दरनन्द में करुण रस की कोमल और भावप्रवण अभिव्यक्ति हुई है। करुण रस की अभिव्यक्ति में कवि की भावुकता ने मर्म को खूब पहचाना है। यथा—

> सा चक्रवाकीव भृशं चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षतचक्रवाका।
> विस्पर्धमानेव विमानसंस्थै पारावतै: कूजनलोलकण्ठै ॥ सौ० ६।

सुन्दरी अपने प्रियतम के वियोग में करुणावलित हो गई है, वह श्येन द्वारा आहत चक्रवाक के कारण दुःखी चक्रवाकी के समान अत्यधिक विलाप करने लगी, जिसकी स्पर्धा में लोल कण्ठ वाले कबूतर भी कूजते प्रतीत होते हैं।

अश्वघोष के करुण में वस्तुतः सच्चे हृदय के अन्तस्तल की कोमल अभिव्यक्ति है। ऊपर की कविता में कितनी करुणा भरी है, कितनी विकलता है। सुन्दरी के प्राणों में चैन नहीं है, केवल विरह है, वैकल्य है और विषण्णता की व्याप्ति है।

---

१ एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुद तरंगमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।
उत्तर रामचरित ३।४७।

२. इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचसः सश्रवणादपि।
एभिर्भावविशेषैः करुणो रस नाम सम्भवति॥

३ अवसस्तोत्करपुटा सतारा जलाविला
मन्दसंचारिणी दीना सा शोके दृष्टिरुच्यते। नाट्यशास्त्र ८।५६।

सुन्दरी अपने प्रियतम के वियोग मे शोकाकुल हो गई है। उसके उदर में उच्छ्वसित वेग के अत्यन्त प्रबल हो जाने से उत्कम्पन होने लगता है और उसके उदर की दशा वज्राग्नि से सभिन्न गुफा के समान हो जाती है। शोक की अग्नि से उसका विक्षिप्त हृदय जलने लगता है और वह विभ्रान्त चित्त हो बैठी रहती है—

सा सुन्दरी श्वासचलोदरी हि वज्राग्निसंभिन्नदरीगुहेव।

शोकाग्निनान्तरहृदि दह्यमाना विभ्रान्तचित्तेव तदा बभूव॥ सौ० ४।३३।

इस कविता की कला को असीम दु:सह वेदना की आकुल अभिव्यंजना ने अनुपम वैशिष्ट्य प्रदान कर दिया है। इसमें अभिव्यंजित अन्तर्वेदना हृदय को सक्षुब्ध करती प्रतीत होती है।

रसों के निरूपण मे आद्याचार्य भरतमुनि ने आठ ही रस माना है। क्योंकि नवाँ रस शान्त (रस) का अभिनय रगमच पर सम्भव नहीं है, किन्तु बाद के आचार्यों ने शान्त रस की मान्यता स्वीकार की[1]। मम्मट ने "शान्तोऽपि नवमो रसः" लिखकर उसकी उपादेयता सिद्ध की। जिस प्रकार आनन्द की सम्प्राप्ति के लिये शृंगार की परम उपादेयता है, उसी प्रकार परममोक्ष की आध्यात्मिक सुखानुभूति के लिए शान्त रस की अपेक्षा है। शान्त रस की अनुभूति मे संसार निस्सार प्रतीत होता है, चतुर्दिक् वैराग्य और सयमित जीवन की प्रभा छिटकी होती है। इस रस मे निर्वेद या शम स्थायिभाव होता है[2]।

अश्वघोष के सौन्दरनन्द मे शान्त रस अन्तःसलिला के प्रवाह के समान निरन्तर प्रवहमान है। शान्त रस को ही अङ्गी रस बनाकर महाकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया है। इस काव्य मे उन्होंने सांसारिक नीरसता और क्षणभगुरता का प्रत्यक्ष दर्शन कराकर निर्वाण की परम प्राप्ति को ध्येय बतलाया है। ससार की सभी वस्तुएं क्षणभगुर हैं। फूल विकसते हैं लेकिन कुछ क्षणो के बाद उनकी लुनाई फीकी पड जाती है, चन्द्रमा का उदय होता है लेकिन प्रत्यूष के पहले ही छुप जाता है। चिरस्थायिता कहीं नहीं, यत्र तत्र सर्वत्र क्षणस्थायिता ही है।

कवि का प्रधान लक्ष्य शान्त रस का वर्णन करना है। शान्त रस के विभाव के रूप मे उन्होंने नारी की मोहकता और संसार की दुःखमयता का

---

१ शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः

बीभत्साद्भुत सज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसास्मृताः। काव्यप्रकाश ४।९।

२ शान्त. शमस्थायिभावः। साहित्यदर्पण, ३।२४५।

वर्णन किया है। संसार से दुःखोत्पादक वस्तुओं का परित्याग निर्वेद के परिज्ञान से ही सम्भव है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कहीं भी सुख नहीं है[1]। संसार में अपना पराया कोई नहीं है। ममता (मोह) ही एक कारण है जो सबों को एक सूत्र में बाँधे रहता है[2]। इन सब से मुक्ति हो जाने पर ही वैराग्य का प्रादुर्भाव होता है जो शान्त रस का आन्तरिक प्रधान तत्त्व है। वैराग्य के बाद ज्ञान और सम्यक् ज्ञान के बाद सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है[3]। स्त्री सौन्दर्य की क्षणभंगुरता दिखलाकर महाकवि अश्वघोष ने शान्त रस की उदात्त अभिव्यञ्जना की है। कवि ने सांसारिक सौन्दर्य की वस्तु को कालुष्य पूर्ण एवं सास्रव बतलाया है। इन पंक्तियों के अध्येता को क्या वैराग्य की अनुभूति न होगी ?

मल्पङ्कधरा दिगम्बरा प्रकृतिस्थैर्नखदन्तरोमभिः
यदि सा तव सुन्दरी भवेन्नियतं तेऽद्य न सुन्दरी भवेत् ।
स्रवतीमशुचिं स्पृशेच्च कः सघृणो जर्जरभाण्डवत्स्त्रियं ।
यदि केवलया त्वचावृता न भवेन्मक्षिकपत्रमात्रया । सौ० ८।५१,५२

शान्त रस की पुष्टि वस्तुतः वहाँ होती है जहाँ शब्द के सुनते ही सुख दुःखात्मक संसार के प्रति विराग भावना का उन्मेष हो जाय। विराग की भावना से ही शान्त रस की स्रोतस्विनी स्रवित होती है। एक चित्र द्रष्टव्य है—

स्मृतेः प्रमोषो वपुषः पराभवो रतेः क्षयो वाच्छ्रुतिचक्षुषां ग्रहः ।
श्रमस्य योनिर्बलवीर्ययोर्वधो जरासमो नास्ति शरीरिणां रिपुः ॥ सौ० ९।३३
यथा हि नृणां करपत्रमीरितं समुच्छ्रितं दारु भिनत्त्यनेकधा ।
तथोच्छ्रितं पातयति प्रजामिमामहर्निशाभ्यामुपसंहिता जरा ॥ सौ० ९।३२।

ऊपर की दोनों कविताओं में बुढ़ापा को अत्यन्त क्लेशदायक और पराभव का कारण कहा गया है। बुढ़ापा के समान शरीरधारियों के लिए और कुछ दुःख नहीं है। सभी प्रकार की शक्तियों का ह्रास करनेवाला यह बुढ़ापा ही है यही संसार का पतन उपस्थित करता है।

बुढ़ापे की इस कारुणिक दशा की वर्णना से मन में विरति उत्पन्न हो जाती है। अत्यन्त क्लेशमय बुढ़ापे में कौन पुरुष जीना चाहेगा ? कष्ट का

---

१ क्षुत्पक्तिनिवर्तनेन क्षुदिपपासाबलमादति ।
सर्वत्र नियतं दुःखं न क्वचिद्विद्यते शिवं ॥ सौ० १५।४४।

२ न कस्यकस्यचित्प्रियं । सौ० १५।३५।

३ संसारे कृष्यमाणानां स वाना स्वकं कर्मणा ।
को जनः स्वजनः को वा मोहात्सक्तो जने जनः ॥ सौ० १५।३१।

महोदधि मे कौन डुबकी लगाना चाहेगा ? इससे कहीं अच्छा है कि दुःख के आत्यन्तिक निरोध के लिये मनुष्य सतत् चिन्तनशील रहे ।

सौन्दरनन्द मे यो तो अनेक रसो का समाहार कवि ने बड़े अलौकिक ढंग से किया है, लेकिन इस महाकाव्य के अन्तःकरण मे शान्त रस की जो तपःपूत धारा उसने बहायी है वह अनुपम है। निर्वाण की सप्राप्ति मे मन आकाक्षामुक्त हो जाता है और जब यह अवस्था आती है तब शान्त रस की धारा प्रवाहित होती है। शान्त रस मानवीय मनोयोगो के पराभव के बाद उत्पन्न होता है। सौन्दरनन्द काव्य मे शान्त रस की ही स्रोतस्विनी अन्तःसलिल होकर बही है, और इसके प्रयोग मे कवि ने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

काव्य मे वीर रस का होना भी शास्त्रीय परम्परा के अनुसार परमावश्यक है। एतदर्थ अश्वघोष ने सौन्दरनन्द के सप्तदश सर्ग मे नन्द का आध्यात्मिक सघर्ष दिखाकर इसकी आपूर्ति मे अपना कलात्मक वैचक्षण्य दिखलाया है। नन्द के आध्यात्मिक सघर्ष से उपचित वीरभाव का दर्शन अपेक्षित है —

सज्ज्ञानचापः स्मृतिवर्म बद्ध्वा विशुद्धशीलव्रतवाहनस्थ ।
क्लेशारिभिश्चित्तरणाजिरस्थैः सार्धं युयुत्सुर्विजयाय तस्थौ ॥ सौ० १७।२३।

सत्यज्ञान रूपी चाप लेकर, स्मृतिकवच को बाँध विशुद्ध शीलव्रत के वाहन पर समारूढ़, चित्त के युद्धस्थल मे सस्थित क्लेश शत्रुओं के साथ युयुत्सु नन्द विजयेच्छा से डटा रहा।

इस पद्य के पढ़ते ही ओज का तनाव अग अग मे सव्याप्त हो जाता है। मानसिक भावो की तीव्रता मे सदृप्ति का संगमन हो जाता है और साथ ही धनुर्धारी एव कवचावृत रथारूढ विजयेच्छु नन्द का चित्र आँखों के सामने प्रतिबिम्ब के रूप मे प्रतिफलित हो उठता है।

तत स बोध्यङ्गशितात्तशस्त्रः सम्यक्प्रधानोत्तमवाहनस्थः ।
मार्गाङ्गमातङ्गवता बलेन शनैः शनैः क्लेशचमू जगाहे ॥ सौ० १७।२४।

इसके पश्चात् सात बोध्यङ्गरूपी तीक्ष्ण शस्त्रों को ग्रहण कर, उद्योगरूपी वाहन पर चढ़ कर, अष्टागिक मार्ग के आठ मातङ्गबलों के साथ उसने क्लेशचमू मे प्रवेश किया।

साङ्गरूपक का सहारा लेकर कवि ने एक उत्तमोत्तम धीर-वीर गम्भीर विजेता का चित्र उपस्थित किया है। 'मार्गाङ्गमातङ्गवता' जैसे शब्दो क ओज-विशिष्ट विन्यास से अनुपम ध्वन्यर्थ व्यजना भी कवि ने समवेत कर दी है। नन्द भी क्लेशचमू के सम्यक् उन्मूलन के लिए बोध्यङ्गरूपी शस्त्रों को धारण

करता हुआ, सम्यक् यन्त्रनियन्त्रित यान पर आरूढ होकर, अष्टांगिक मार्ग के आठ हाथियों की सेना लेकर युद्ध भूमि में प्रवेश करता है।

इसमें क्लेशचमू को जीतने का आरम्भरूप उत्साह ही स्थायिभाव है। धृति और आवेग व्यभिचारी भाव हैं तथा बोध्यंगरूप शस्त्र विभावादि हैं। इससे उत्तमप्रकृतिकउत्साहात्मक वीररस की परिपुष्टि हो रही है। नन्द की मनश्चेतना में प्रसन्नता और परिपूर्ण उत्साह लक्षित होता है। कवि ने इस प्राणवन्त वर्णन से वीररस का उत्तमोत्तम चित्र आँका है। इसके वीररस में यद्यपि नगाड़ों की ध्वनि और मृदंगों की ठनक नहीं है, फिर भी शान्तशालीन शब्दों से जो वीरभाव की व्यंजना हो रही है वह अप्रतिम है।

अलंकार योजना

काव्य में अलकार योजना का महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ आलोचकों का कथन है कि अलकार के बिना काव्य सौन्दर्य सम्पन्न नहीं होता। आचार्य भामह, वामन और जयदेव ने अलकार की पूर्ण मान्यता स्वीकार की है[1]। लेकिन केवल अलकार से काव्य की शोभा नहीं होती, यद्यपि काव्य के शोभा विधायक धर्म अलंकार कहे जाते हैं[2]। आचार्य विश्वनाथ ने इसे रस का उपस्कारक मात्र माना है[3]।

अलकार की चाहे काव्य मे कुछ भी मान्यता हो, इतना तो अवश्य मान्य है कि ये अलंकार, भावों की अभिव्यक्ति को प्रांजल और प्रभावशाली बनाने मे समर्थ होते हैं। अलकारों की सार्थकता वस्तुत तभी सिद्ध होती है, जब वे रस भावादि के तात्पर्य का आश्रय ग्रहण कर काव्य में सन्निविष्ट होते हैं[4]।

अलकार भाव और भाषा को सौन्दर्य प्रदान करता है, और उससे तादात्म्य स्थापित कर उसे मधुर और सजीव बना देता है। जो अलकार

---

१ क—न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनितामुखं। काव्यालकार १।१३।

ख—काव्यग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलकारः।

काव्यालकारसूत्र १।१।१,२।

ग—अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥ चन्द्रालोक १।८।

२ काव्यशोभाकरान्धर्मानलकारान्प्रचक्षते। काव्यादर्श २।१।

३ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।

रसादिनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ साहित्यदर्पण, १०।१।

४ रसभावादि तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।

अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥ ध्वन्यालोक २ ६।

अपनी प्रभावोत्पादकता के अभाव मे रसध्वनि की अभिव्यजना नही करते, वस्तुत उसे अलकार की सज्ञा नही दी जा सकती।

महाकवि अश्वघोष अपने काव्य मे अलकार-योजना मे उतने सतर्क नही मालूम पडते क्योकि व रसवादी कवि हैं, अलकारवादी नही। व माघ और श्रीहर्ष की तरह अलकृत काव्य के रचयिता नही, अपितु वे तो उपदेशामृत से आमूल अभिषिक्त कमनीय कविता के वरिष्ठ कलाकार हैं।

अश्वघोष प्राणवन्त प्रतिभा के कवि हैं, अतएव उनके अलकार प्रयोग मे कहीं भी कृत्रिमता नही झलकती। उनके अलकार स्वय अपने अपने स्थान पर समुचित ढग से सन्निविष्ट हो जाते हैं। सचमुच महाकवियों को जिनकी प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से सवलित है, उन्हें अलकार योजना के लिये प्रयास नही करना पडता। यद्यपि अलकार प्रयोग के लिये महाकवि अश्वघोष सचेष्ट नहीं हैं, फिर भी उनके काव्यो मे प्राणवान छटा विकसित है। साधर्म्यमूलक अलकारो के प्रयोग मे कवि ने उपमा का सफल प्रयोग किया है। उपमा की योजना मे वे कालिदास की ऊँचाई को स्पर्श करते हैं। वस्तुत कालिदास के बाद उपमा अलकार का यदि कोई रससिद्ध प्रयोक्ता है, तो वे हैं महाकवि अश्वघोष। उपमा के बाद भी उन्होंने रूपक, यमक, अप्रस्तुत-प्रशसा, दीपक, विभावना, विशेषोक्ति, अनुप्रास इत्यादि अलकारो का भी सफल प्रयोग किया है।

अश्वघोष की उपमाएँ

उपमा साहित्य श्री की अलकृति के लिये सर्वातिशायी अलकार है। भूयो विद्य मनीषियो ने तथा सहृदय कवियों ने उपमा का हृद्गत कोमल अनुभूतियों की सूक्ष्म अभिव्यजना के लिये अनुपम प्रयोग किया है। अनुभूति का भावन करने वाला कोई भी जीवन्त प्राणी, अपनी माधुरी भरी भावनाओ के सम्प्रेषण के लिये उत्सुक रहता है और वह चाहता है कि सौन्दर्यसिक्त मेरी भावनाओं का रसास्वादन मेरे जैसा अन्य प्राणी भी करे। अनुभूति के उच्छल ससार मे वह व्यवहार क्रिया, गुण और वस्तु के माध्यम अपनी ध्वनिव्यजक भावनाओ को अभिव्यक्त करता है जिसमे चेतना का वरदान सौन्दर्य अन्तर्हित होता है। सादृश्य का स्वरूप ग्रहण कर एक वस्तु के साथ वह दूसरी वस्तु क साम्य मूलक धर्मों का अभिव्यजन इसलिए करता है कि भाव अत्यधिक प्रेषणीय हो सके। इस प्रकार भावो के मूर्त रूप की उत्कृष्ट व्यजना के लिये उपमा की महती विशेषता है।[1]

उपमा का सौन्दय उसकी व्यापक प्रेषणीयता मे है। भावों की उत्कर्ष व्यजना मे, वस्तुओ के रूपानुभव मे तथा क्रिया, गुण एव स्वभाव के अनुभवो

स्पर्श से इसकी शोभा अत्यधिक विकसित होती है। यही कारण है कि कालिदास एवं अश्वघोष की कविताओं में अनवद्य सौन्दर्य की झांकी मिलती है। कालिदास की उपमाओं में इतनी सूक्ष्मता और शालीनता है कि सौन्दर्य स्वादु अर्थ वस्तु को स्वयं स्फुरित कर देता है। कालिदास की उपमाओं के सौन्दर्य से, कोमलप्राण अभिव्यञ्जनाओं तथा शालीन रसभरित भावनाओं से आप्यायित होकर मनीषी सहृदयों ने "उपमा कालिदासस्य" कहकर उनकी उपमाओं की उत्तमता सिद्ध कर दी है। वस्तुतः कालिदास की उपमा अपने आप में इतनी कोमल, प्रेषणीय और अनुभूति प्रवण है कि उसका सौन्दर्य क्षण-क्षण नवीन मालूम पड़ता है।

कुछ आलोचकों का विचार है कि यदि कालिदास की ख्याति केवल उनकी उपमाओं पर है तब अश्वघोष उनको पार कर जाते हैं। किन्तु मेरे विचार से अश्वघोष कालिदास की उपमा की ऊँचाई को नहीं छू सकते। कालिदास केवल उपमा के ही कवि नहीं हैं, अपितु अनुभूतिभूषित भाषा को उपमा की सादृता से अभिव्यञ्जक बनाने वाले कवि हैं। इतना ही नहीं, उपमा की जितनी शालीनता, अर्थगौरव को ध्वनित करने वाली अद्वितीय प्राणवत्ता, तथा सूक्ष्म सौन्दर्य की अभिव्यक्त करने वाली स्फुरणशील अभिव्यञ्जना एवं रूप लिंग की अनुपम समन्विति जितनी कालिदास की कविताओं में मिलती है उतनी अश्वघोष की कविताओं में नहीं। फिर भी हम अश्वघोष की उपमाओं की श्लाघनीयता, स्वाभाविकता तथा रसपेशलता का निराकरण नहीं कर सकते।

उदाहरणार्थ अश्वघोष की एक उपमा के सौन्दर्य के साथ कालिदास की उपमा का सर्माजत सौन्दर्य द्रष्टव्य है —

> स गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
> सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तुरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ॥
>
> सौन्दरनन्द, ४।४२।

> त वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
> मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥
>
> कुमारसम्भव ५।८५।

ऊपर की दोनों उपमाएँ भाव और भाषा में साम्य रखती प्रतीत होती हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि किसकी नकल किसने की है, क्योंकि कल्पना के दिव्यलोक में सरस्वती का उन्मुक्त वरदान सब को प्राप्त है। फिर भी दोनों कविताओं के विवेचन से यह प्रतीति होती है कि कालिदास की कविता अधिक

भावात्मक और मोहक है। मनोमय जगत् का मनोविज्ञानिक चित्रण करने मे दोनो कवियो ने अपनी कुशलता दिखलाई है। प्रिया तथा तथागत के प्रेम से समाकृष्ट नन्द की उपमा लहरो पर सन्तरणशील कलहंस से देकर तथा भावो से चचल पार्वती की उपमा तरगो से समाकुल सिन्धु से देकर अश्वघोष तथा कालिदास ने क्रमशः नन्द और पार्वती के मनोमय जगत् को स्पष्ट कर दिया है। कालिदास की कविता मे केवल एक "वेपथु" शब्द से ही अनेक प्रतीयमान ध्वनियाँ अभिव्यजित हो जाती हैं। यद्यपि दोनो की कविताएँ समान भाव से भूषित हैं, किन्तु भाव-भाषा और कल्पना मे दूसरी कविता पहली कविता से अधिक ऊर्जस्वित् एव प्राणवन्त है।

अश्वघोष भी उपमा के क्षेत्र मे अद्वितीय हैं। प्रातिभचक्षु और काल्पनिक सहृदयता के सहारे उन्होने उपमा का प्रयोग कर वर्णनीय वस्तु के अन्तः प्रदेश मे सौन्दर्य का सागर लहरा दिया है। विषयो के अनुकूल वर्णन को प्रभावोत्पादक और अनुभूतिव्यजक बनाने के लिये अश्वघोष एक ही समय उपमाओ की एकावली गूँथ देते हैं यही कारण है कि उपमाओ की एकावली से अश्वघोष की काव्य-श्री अत्यधिक चारुतरा अभिलक्षित होती है। अश्वघोष की उपमाएँ सरलता और स्वाभाविकता की प्राणवन्त गरिमा से स्पन्दित हैं। उसमे सामाजिक परिवेश के जीते जागते चित्र है। बाह्य और आभ्यन्तर दोनो के सौन्दर्य का उनमे सुन्दर समीकरण है। लौकिक चेतना को ऊर्ध्वप्राण बनाने की सफल वाछा है। लौकिक और अलौकिक जीवन के अध्याय को जोड देने की अद्भुत क्षमता है तथा धर्मदेशनाओ को अभिव्यक्त करने के लिये सामाजिक दृष्टिकोण भी है।

अश्वघोष की उपमाएँ परम्परा से ली गई हैं। उसमे सामाजिक दृश्यो के सूक्ष्म अवलोकन से प्राप्त नित नूतन उपमान आये हैं तथा वे जन—सुलभ हैं। जीते-जागते और लोक-चेतना से चुने हुए उनके उपमान सबो के लिये ग्राह्य और स्पृहणीय हैं। उनको उपमाओ क विषय विश्व की चिरपरिचित वस्तुएँ हैं जिनसे हमारे प्रात्यहिक जीवन का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

सौन्दरनन्द मे जो उपमाएँ लक्षित होती हैं उनका वर्गीकरण हम निम्न रूपो मे कर सकते हैं—

क—प्रयोगमूलक
ख — मनोवैज्ञानिक
ग—अलौकिक एव मौलिक
घ - स्वाभावक

ङ — सामाजिक

च शास्त्रीय एवं सृष्टि पदार्थीय

अब हम अश्वघोष की उन उपमाओं का अध्ययन करेंगे जो प्रयोग-मूलक हैं। कुछ उपमाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें सब कवि अपनी कल्पना का विषय बनाने की आकांक्षा करते हैं, फलत व उपमाएँ रूढ़ हो जाती हैं। बार बार एक ही उपमा के दर्शन से हृदय की भावनाओं में वह तरलता नहीं आती, जो किसी नवीन के अवलोकन से। फिर भी महाकवि अपनी कल्पना की प्राणवन्त मुहर लगा कर उसे शालीन कर देता है।

(क) प्रयोगमूलक उपमाएँ द्रष्टव्य हैं—

क — स चक्रवाक्येव हि चक्रवाकस्तया समेतः प्रियया प्रियार्हः।
नाचिन्त्यद्वैश्रमण न शक्र तत्स्थानहेतो कुत एव धर्म ॥ सौ० ४।२।

ख — न स स्वदन्यां प्रमदामवैति
स्वचक्रवाक्या इव चक्रवाक। सौ० ६।२२।

ग — सर्वास्ववस्थासुलभे न शान्ति
प्रियावियोगादिव चक्रवाक। सौ० ७।१७।

इन पद्यो मे चक्रवाक और चक्रवाकी की उपमा दी गई है। यद्यपि भावानुभूति को व्यजक बनाने मे ये उपमाए अनुपम हैं, फिर भी रूढ़ जैसी लगती हैं क्योंकि इस प्रकार की उपमाओ का प्रयोग चिरकाल से कवियो की प्रतिभा का विषय रहा है। महाकवि कालिदास ने भी प्रेम की व्यापकता को दिखाने के लिये चक्रवाक और चक्रवाकी की उपमा दी है।[1]

(ख) मनोवैज्ञानिक उपमाएँ—

अश्वघोष की काव्यकला का निजी स्वरूप उनकी मनोवैज्ञानिक अभिरुचि मे स्पष्ट प्रतीत होता है और अश्वघोष जैसे दार्शनिक उपदेष्टा के लिये यह अनुरूप भी है। सौन्दरनन्द मे अश्वघोष ने उपमाओं के सौन्दर्य का ताना बाना बुनकर प्रत्येक स्थिति चित्रों का महत्त्वपूर्ण आकलन किया है। मानसिक अवस्थाओं और दु खात्मक अनुभूतियो की विवृति के लिये व इन उपमाओं का साहाय्य लेते हैं। मनोवैज्ञानिक उपमाओं के प्रयोक्ता के रूप मे अश्वघोष का *स्थान श्रेष्ठ है। प्रकृति के लहराते प्रदेश से उपमान लेकर अप्रस्तुत की योजना* करना, यद्यपि और भी कवियो के लिय अस्वाभाविक नही है फिर भी अश्वघोष तो अपने क्षेत्र के अकेले जीव हैं। अश्वघोष की कविता सच पूछा जाय तो

---

१. दूरीभूते मयिसहचरे चक्रवाकीमिवेकाम्। मेघदूत।

उपमाओं से आवर्धित है, जो पुष्प स्तवकों के भार से झुकी लता की तरह दीखती है।

मनोवैज्ञानिक भावनाओं की साकार प्रतिमा मूर्त करनेवाली एक दो उपमाओं का चित्र द्रष्टव्य है—

त्वयि परमधृतो निविष्टतत्त्वे भवनगता न हि रंस्यते ध्रुव सा।
मनसि शमदमात्मके विविक्ते मतिरिव कामसुखे परीक्षकस्य ॥
सौ० १८।६०।

कवि ने इस श्लोक मे पूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य का चित्रण किया है। मनोवैज्ञानिक भावनाओं की विवृत्ति मे यह उपमा कमाल कर गयी है। उपमेय और उपमान का गुण सादृश्य और क्रिया सादृश्य का सौन्दर्य भी द्विगुणित होता हुआ लक्षित है। धैर्यपूर्णतत्व मे सलग्न नन्द की उपमा शान्त निर्मल चित्त वाले योगी से और पतिपरायणा सुन्दरी की उपमा कामसुख से विरत योगी की बुद्धि से देकर कवि ने औचित्य की उत्कृष्टता प्रतिपादित की है। सहज सरल भावो का इतना मनोवैज्ञानिक चित्रण अश्वघोष से ही सम्भव है।

मनोवैज्ञानिक भावनाओ की विवृति के लिये निम्नलिखित उपमाएँ द्रष्टव्य हैं —

क – पद्मपर्णं यथा चैव जले जात जले स्थित।
उपरिष्टादधस्ताद्वा न जले नोपलिप्यते ॥
ख—तद्वल्लोके मुनिर्जातो लोकस्यानुग्रह चरन्।
कृतित्वान्निर्मलत्वाच्च लोकधर्मैर्न लिप्यते ॥ सौ० १३।५, ६।

इन पद्यो में मनोवैज्ञानिक भावना का सूत्र सभी शब्दों को अपने मोती की माला की तरह पिरोये हुए है। मनोवैज्ञानिकता की तरग शब्द-शब्द मे सम्प्राप्त है।

(ग) अलौकिक एवं मौलिक उपमाएँ—

अश्वघोष की उपमाएँ इतनी सौन्दर्यशालिनी हैं कि उसमे अलौकिकता एव मौलिकता की चमत्कृति स्पष्ट मालूम होती है। भाव भाषा के साथ ही उपमेय और उपमान का सामजस्य अभूतपूर्व तथा हृदयरजक प्रतीत होता है। एक अलौकिक भावनाओ से समवेत उपमा द्रष्टव्य है—

ताभिर्वृता हर्म्यतलेऽङ्गनाभि चिन्तातनु सा सुतनुर्बभासे।
शतह्रदाभि परिवेष्टितेव शशाङ्कलेखा शरदभ्रमध्ये ॥ सौ० ६।३७।

इसमे कवि ने अद्भुत कल्पना कौशल से रूपरम्या सुन्दरी की वियोगकालीन शोभा की वर्णना के लिये बडे ही कोमल और प्रभविष्णु उपमान जुटाये हैं।

नन्द के वियोग में कृशवदना सुन्दरी के लिये कवि ने शशांक लेखा का उपमान चुना है। अंगनाएँ जिन्होंने सुन्दरी को समावृत कर लिया था, स्वयं कोमलता और सुन्दरता से युक्त थीं। अतएव कवि ने उनके लिए दामिनी का उपमान चुना तथा मणिखचित सौध के लिये मेघ का। यह उपमा अपने आप मे भावाभिव्यंजक और सुन्दरी के विरहकालीन सौन्दर्य के उदबोधन मे अप्रतिम हैं। कवि की रमणीय कल्पना ने काव्यकला म अद्भुत शोभा उत्पन्न कर दी है। निर्मल एव शरत्कालिक मेघ और विद्युत को उपमा से हर्म्यतल के दृश्य की झाकी अतीव बाकी हो गई है।

अश्वघोष की कुछ उपमाएँ इतनी प्राजल और रोचिष्णु हैं कि उनमें अनुभूति और अभिव्यक्ति का निरालापन दृष्टिगत होता है। एक मौलिक उपमा द्रष्टव्य है—

ता सुन्दरी चेन्न लभेत नन्दः सावा निषेवेत न तं नतभ्रूः।

द्वन्द्व ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ॥ सौ० ४७।

सुन्दरी और नन्द का मिलन अतीव प्राणवान है। परस्पर योग्य समागम है। यदि नन्द सुन्दरी को नहीं मिलता और सुन्दरी नन्द को नहीं मिलती तो ये दोनो सौन्दर्य के विलसित जोडे रात्रि के बिना चन्द्र और चन्द्र के बिना रात्रि के सदृश अपनी रमणीयता से प्रसन्न नहीं होते। राका से राकेश तथा राकेश से राका की शोभा मे जैसे सप्राणता आ जाती है वैसे ही नन्द और सुन्दरी के *समागम से उन दोनो के जीवन मे आनन्द की परिपूर्णता का भाव* उपस्थित हो जाता है।

नन्द की सुन्दरता को देखकर सुन्दरी आह्लाद से परिपूर्ण होती थी, उसकी मुख छवि को निहार-निहार कर वह मुग्ध हुआ करती थी, अतएव सुन्दरता और आह्लादकता के समवाय नन्द के लिये कवि ने शशाक का उपमान दिया है और कोमलागी, भावप्रवण सुन्दरी के लिये निशा का। वस्तुत ये दोनो उपमान रूप गुण और सादृश्य में अनुपम हैं। कवि के ये उपमान वस्तु स्थित की व्यजना में तथा भावो को प्रेषणीयता में सक्षम हैं।

(घ) स्वाभाविक एवं चित्रात्मक उपमाएँ—

अश्वघोष की उपमाए स्वाभाविक और सहजबोधगम्य हैं। उनमे वर्णित भाव सरल और अतिशय कोमल हैं, साथ ही उन उपमाओ में भावोत्कर्ष की अनुपम व्यजना दीखती है। एक स्वाभाविक भावप्रवण उपमा का चित्र द्रष्टव्य है—

पाणौ कपालमवधाय विधायमौण्ड्य
मान निधाय विकृत परिधाय वास ।
यस्योद्भवो न धृतिरस्ति न शान्तिरस्ति
चित्रप्रदीप इव सोऽस्ति च नास्ति चैव ॥ सौ० ७।४८ ।

इस कविता मे चित्रप्रदीप की स्वाभाविक उपमा देकर कवि ने उस भिक्षु का चित्रण किया है जो वस्तुत तो भिक्षु नही है लेकिन बाह्य वेश भूषा से भिक्षु प्रतीत होता है। अर्थात् जो भिक्षु हृदय से शास्त्रों के द्वारा प्रदिष्ट उपदेश को न धारण कर केवल शरीर से वेश रूप मे धारण करता है, वस्तुत वह चित्रप्रदीप की भाँति है जिसके सत्यापन मे असत्यता का प्रत्यायन होता है।

चित्रात्मक उपमाएँ

चित्रात्मक उपमाओ की योजना मे अश्वघोष ने अपनी कलात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। उनकी चित्रात्मक उपमाओं के दर्शन से चक्षु पटल के सामने सौन्दर्य से दीप्त प्रतिमा साकार हो जाती है। चित्रात्मक उपमाओ की भाषा से जो ममस्पृक् ध्वनि निकलती है, वह भाव सगीत बनकर हृदय के अन्त प्रदेश को स्पर्श कर लेती है। स्वर लहरियो पर तैरती उनकी रगीन कल्पनाएँ क्षण क्षण परिवर्तित होने वाली चित्राकृतियो का आकलन करती रहती हैं। एक चित्रात्मक उपमा द्रष्टव्य है—

तस्या मुख तत्सतमालपत्र ताम्राधरोष्ठ चिकुरायताक्ष ।
रक्ताधिकाग्र पतितद्विरेफ सशैवल पद्ममिवाबभासे ॥ सौ० ४।२१।

अश्वघोष ने इस वर्णना मे अपनी अप्रतिम सौन्दर्य दृष्टि का परिचय दिया है। तमालपत्र से युक्त मुख के लिये शैवल सपृक्त सरसिज का तथा ताम्रवर्णी अधरोष्ठो के लिये रक्तिम दलों से युक्त पद्म का और लम्बी लम्बी श्रवण-पुटो तक खिची कजरारी आँखों के लिये शैवल से घिरे रक्तिम कमल के अग्र भाग पर बैठ काले भौरो का उपमान देकर कवि ने रुचिर प्रसगो की सफल अवतरणा प्रस्तुत की है।

दो चित्रात्मक उपमा और देखिये—

तस्या मुख पद्मसपत्नभूत पाणौ स्थित पल्लवरागताम्रे ।
छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य बभौ नत पद्ममिवोपरिष्टात् ॥
सौ० ६।११।

कासाचिदासा वदनानिरेजुर्वनान्तरेभ्यश्चलकुण्डलानि ।
व्याविद्धपर्णेभ्य इवाकरेभ्य पद्मानि कारण्डवघट्टितानि ॥
सौ० १०।३८।

ऊपर की कविताओं मे चित्रात्मक भाषा में वर्णित भावनाएँ अतीव स्पृहणीय हैं। कोई भी सहृदय कलाकार इसे पढ कर भावाभिभूत हो अपनी तूलिका से भावात्मक चित्र आँक सकता है —

(ङ) सामाजिक उपमाएँ—

महाकवि अश्वघोष ने सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को प्रभावपूर्ण अभिव्यजना के लिये उन उपमाओं का साहाय्य लिया है जो जन जीवन की चिरपरिचित वस्तुओं से ली गई हैं जिसकी बोधगम्यता मे पाठक को कुछ भी कठिनाई का अनुभव नहीं करना पडता है। घरेलू उपमान होने के कारण वे चिरपरिचित और अतीव स्वभाविक से लगते हैं और वे हृदय के मर्म को अधिक स्पर्श करते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

यथेक्षुरत्यन्तरसप्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते।
तथा जरायन्त्रनिपीडिता तनुर्निपीतसारा मरणाय तिष्ठति ॥ सौ० ९।३१।

जैसे इक्षु दण्ड का सब रस प्रपीडित कर उसे पृथ्वी पर इन्धन के निमित्त सूखने के लिये फेंक दिया जाता है वैसे ही जरा-मन्त्र से निपीडित हो एव सार रहित होकर यह शरीर मृत्यु की प्रतीक्षा मे रहता है। ईख की यह उपमा अत्यन्त हृदयावर्जक और भावगम्य है। अश्वघोष इन उपमाओं के प्रयोग मे सिद्धहस्त हैं। सामाजिक परिवेश से ली गई उपमाएँ निम्न पद्यो मे देखी जा सकती हैं—

अदृष्टतत्त्वेन परीक्षकेण स्थितेन चित्रे विषयप्रचारे।
चित्त निषेद्धु न सुखेन न शक्य कृष्टोदको गौरिव सस्यमध्यात् ॥
सौ० १४।४८।

रागोद्दामेन मनसा सर्वथा दुष्करा धृतिः।
सदोष सलिल दृष्ट्वा पथिनेव पिपासुना ॥ सौ० १२।२७।
बालस्य धात्री विनिगृह्य लोष्ट यथोद्धरत्यास्यपुटप्रविष्टं।
तथोज्जिहीर्षु खलु रागशल्य तत्त्वामवोच परुष हिताय ॥ सौ० ५।४७।

ऊपर के पद्यों के अध्ययन से कवि की परिपक्व प्रज्ञा का सूक्ष्म दर्शन होता है। सरल और प्राजल भाषा मे घरेलू उपमानो के सहारे मूर्तिविधायी चित्रो का अकन कवि ने बडे ही सयत ढग से किया है। इन उपमाओं मे केवल कोमलता एव चिरपरिचिति ही नहीं है अपितु आन्तरिक आह्लादकता भी है।

(च) शास्त्रीय एवं सृष्टि पदार्थीय—

अश्वघोष की कविताओं के अध्ययन से उनके शास्त्रीय पाण्डित्य का पूर्ण परिचय मिलता है। उनके इस पाण्डित्य की झलक उनकी व्याकरणिक उपमाओं के प्रयोग में मिलती है। उनकी दो व्याकरणिक उपमाएँ द्रष्टव्य हैं—

बभूव स हि संवेग. श्रेयसस्तस्य वृद्धये।
धातुरेधिरिवाख्याते पठितोऽक्षरचिन्तकै ॥ सौ० १२.९।

यह सवेग उसके श्रेयस् की वृद्धि के लिये ही हुआ, जैसे व्याकरण के पडितो के अनुसार एधि धातु की वृद्धि धातु रूप मे होती है।

न तु कामा-मनस्तस्य केनचिज्जगृहे धृतिः।
त्रिषु कालेषु सर्वेषु निपातोऽस्तिरिव स्मृत ॥ सौ० १२।१०।

काम भावना के कारण किसी भी समय मे किसी तरह उसने धैर्य धारण नही किया। जिस प्रकार 'अस्ति' निपात का प्रयोग तीनो कालो मे (भूत, भविष्य और वर्तमान) होता है।

ऊपर की दोनों कविताओ से अश्वघोष के व्याकरणिक ज्ञान का पूर्ण अभिज्ञान होता है। बाद के कालिदास के काव्यो मे भी इस प्रकार की उपमाएँ मिलती हैं।

अश्वघोष ने बौद्ध धर्म की दार्शनिक प्रवृत्तियों को सरल ढग से जन-सामान्य की चेतना से परिचित कराने के लिये आयुर्वेद शास्त्र की वस्तुओं का सहारा लिया है। इससे गृहीत उपमाएँ अत्यन्त परिचित और बोधगम्य हैं। आयुर्वेद से गृहीत कुछ उपमाएँ द्रष्टव्य हैं—

यथा भिषक् पित्तकफानिलाना य एव कोप समुपैति दोष ।
शमाय तस्यैव विधि विधत्ते व्यधत्त दोषेषु तथैव बुद्ध ॥
सौ० १६।६९।

द्रव्य यथा स्यात्कटुक रसेन तच्चोपयुक्त मधुर विपाके।
तथैव वीर्यं कटुक श्रमेण तस्यार्थसिद्ध्यै मधुरो विपाकः ॥
सौ० १६।९३।

आयुर्वेद की सरल और प्रभावपूर्ण उपमाओं के द्वारा कवि ने विषय वस्तु को सरल एव प्रवस भाषा में प्रकट कर जन-चेतना को हृदयगम कराने की सफल चेष्टा की है।

सृष्टि-पदार्थीय उपमाएँ

अश्वघोष की कविताओ मे यद्यपि प्रकृति का स्वाभाविक और सुकोमल वर्णन नहा मिलता है, फिर भी कवि ने प्रकृति के मनोरम क्षेत्र से भाव-प्रवण उपमान अवश्य चुने हैं। भला प्रकृति की मोहक रम्यस्थलो से कौन रसचेता प्राणी विमुख होगा ? किसके हृदय मे कोकिल की कूक हूक न जगा देगी ? सरोवर म सद्यः प्रस्फुटित कमल क मधुभीगे मकरन्द पर कौन भौंरे आमन्त्रित न हो जायेंगे। अश्वघोष ने भी अपने अनुभवो का तादात्म्य प्रकृति के लहराते

सौन्दर्य से किया है और नयी मनभावन उपमाओं का संचयन कर अपने काव्य साहित्य का शृंगार किया है। प्रकृति-क्षेत्र से ली गई उपमाएं निम्न पद्यों में देखी जा सकती हैं—

> *अयो नत तस्य मुख सवाष्प प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु ।*
> वक्राग्रनाल नलिन तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवाबभासे ॥ सौ० ५।५२।
> नन्दस्ततस्तरुकषायविरक्तवासाश्चिन्तावशो नवगृहीत इव द्विपेन्द्र ।
> पूर्ण शशी बहुलपक्षगत क्षपान्ते बालातपेन परिषिक्त इवावभासे ॥
> सौ० ५।५३।

इन दोनों कविताओं मे कवि ने प्रकृति की कोमल उपमाओं से नन्द की मन.स्थिति एव काषायवस्त्र मे युक्त उसके शरीर की कान्ति का अद्भुत चित्रण किया है। प्रकृति के हृदयावर्जक उपमानो से भावों में प्रेषणीयता तथा शब्दो मे चमत्कृति आ गयी है।

उत्प्रेक्षा

अन्य अलकारों के प्रयोग मे भी अश्वघोष की विदग्धता मिलती है। उपमा के बाद उन्होने उत्प्रेक्षा का भी जोवन्त प्रयोग किया है। उत्प्रेक्षा अलकार वहाँ होता है जहाँ उपमेय में उपमान की सभावना की जाती है और वह सभावना एकरूपता की होती है[1]। साम्य रूप-विवक्षा का यह अलकार कवियो को बड़ा प्रिय रहा है इसमे कवि को अपनी मधुर कल्पना के मुक्त प्रयोग का विस्तृत क्षेत्र मिलता है। सौन्दर्यानुभूति की कोमल अभिव्यक्ति का प्रसार कवि इसमें व्यापक रूप मे करता है। अलकारो मे उपमा के बाद उत्प्रेक्षा का ही स्थान है। महाकवि कालिदास को भी यह अलकार बहुत प्रिय रहा है। उन्होंने तो मेघदूत मे अलका के मार्ग-निर्देशन के समय उत्प्रेक्षा की अविरल धारा ही बहा दी है[2]।

अश्वघोष की एक अद्भुत उत्प्रेक्षा द्रष्टव्य है जिसमे भाव प्रवण कल्पना की रंगीनी निखार पा गयी है—

> व्याघ्र क्लमव्यायतखेलगामी लाङ्गूलचक्रेण कृतापसव्यः ।
> बभौ गिरे प्रस्रवण पिपासुर्दित्सन्पितृभ्योऽम्भ इवावतीर्णः ॥
> सौ० १०।१०।

कवि ने हेतूत्प्रेक्षा द्वारा चित्र को स्पष्ट करने के लिये दाहिने कन्धे पर चक्राकार पूछ को रख कर जलपिपासु बाघ की उत्प्रेक्षा दाहिने कन्धे पर *जनेऊ रख कर पितरों को तर्पण देने वाले पुरुष से जो की है वह अभूतपूर्व है।*

---

१. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। काव्य प्रकाश, १०।१३७।
२ मेघदूत पूर्व, ४६-५८।

गिने चुने शब्दों से कवि ने उत्प्रेक्षात्मक कल्पना में अलौकिक रंग भर दिया है।

विभावना

विभावना[1] अलंकार विशेषोक्ति के ठीक विपरीत होता है। इसमे कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति हो जाती है, उसी में इस अलंकार की चारुता सन्निहित रहती है। विभावना अलंकार का प्रयोग निम्न पद्य मे देखा जा सकता है—

> सनगा च भू प्रविचचाल हुतवहसुखः शिवो ववौ।
>
> नेदुरपि च सुरदुन्दुभय प्रववर्ष चाम्बुधरवर्जितं नभः ॥ सौ० ३।९।

पर्वतों के साथ पृथ्वी कम्पित हो उठी कल्याणप्रद हवा बह चली, सुरदुन्दुभियाँ निनादित हो गईं और अम्बुधरवर्जित आकाश बरसने लगा।

'प्रववर्ष चाम्बुधरवर्जितं नभः' मे विभावना अलंकार की छटा देखने योग्य है। शब्दों के विन्यास से वर्षा का व्यापक चित्र आँखो के सामने झाँक उठता है।

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति[2] अलंकार मे एक प्रकार की विशेष उक्ति का चमत्कृत प्रकाशन होता है, जिससे सामान्य वस्तु भी असाधारण प्रतीत होने लगती है। इसमे कारण के वर्तमान रहने पर भी कार्य नहीं होता है। निम्न पद्य मे व्यतिरेक-गर्भित विशेषोक्ति की सुन्दर सृष्टि हुई है—

> विभवान्वितोऽपि तरुणोऽपि विषयचपलेन्द्रियोऽपि सन्।
>
> नैव च परयुवतीरगमत्परम हि ता दहनतोऽप्यमन्यत ॥ सौ० ३।३२।

विभवयुक्त होने पर भी, तरुण रहने पर भी तथा विषयो के कारण इन्द्रियो के चपल रहने पर भी, कोई पुरुष दूसरो की युवतियो के समीप नही गया, कारण उसने उन्हें अग्नि से बढ़कर दाहक समझा।

इस कविता मे उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का अपूर्व समन्वय हुआ है।

स्मरण

स्मरण अलंकार[3] उसे कहते हैं, जहाँ किसी पूर्वानुभूत वस्तु की, उसके सदृश किसी दूसरी वस्तु के दर्शन से, स्मृति जागृत हो जाय। अश्वघोष के

---

१. क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। काव्यप्रकाश १०।१६२।

२. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। काव्यप्रकाश १०।१६३।

३. यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः, स्मरणम्।
काव्यप्रकाश १०।१९१।

काव्य में इसके उदाहरण अनायास मिल जाते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

प्रिया प्रियाया प्रतनु प्रियङ्गु निशाम्य भीतामिव निष्पतन्तीं।
सस्मार तामश्रुमुखीं सबाष्प प्रिया प्रियङ्गुप्रसवावदाता ॥ सौ० ७।१६।

यहा अपनी प्रिया की प्यारी प्रियङ्गु लता को भयभीत हो निरखती देखकर, नन्द ने प्रियङ्गु के उज्ज्वल फूल के समान गौरवर्ण वाली अश्रुमुखी 'प्रिया का रोते हुए स्मरण किया। प्रियङ्गु लता के दर्शन के फलस्वरूप नन्द को सुन्दरी का स्मरण हो आता है।

रूपक

सौन्दरनन्द में कवि ने रूपक[११] अलंकार का सुन्दर प्रयोग किया है। रूपक में उपमेय पर उपमान का अभेद आरोप होता है। इसमें सादृश्य का चामत्कारिक प्रयोग परिलक्षित होता है। यहाँ साग रूपक का एक सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है—

सा हासहसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥ सौ० ४।४।

हसीरूपी हसवाली, नयनरूपी भ्रमरों से संयुत, पीनस्तनरूपी उठे हुए पद्मकोष वाली वह सुन्दरीरूपी पद्मिनी अपने कुल में उत्पन्न नन्द रूपी सूर्य्य के द्वारा अत्यधिक शोभित हुई।

सागरूपक का इतना हृदयग्राह्य वर्णन, अश्वघोष की प्रौढ प्रतिभा को व्यक्त करता है। कवि ने अधिकाशत सागरूपक का ही प्रयोग किया है। निम्न पद्यों में भी सागरूपक की शोभा दर्शनीय है—

स लोभचाप परिकल्पबाण राग महावैरिणमल्पशेष।
कायस्वभावाधिगतैर्बिभेद योगायुधास्त्रैरशुभापृषत्कै ॥ सौ० १७।३८।
सज्ज्ञानचाप स्मृतिवर्म बध्वा विशुद्धशीलव्रतवाहनस्थ।
क्लेशारिभिश्चित्तरणाजिरस्थै सार्धं युयुत्सुर्विजयाय तस्थौ ॥
सौ० १७।२३।

दीपक

दीपक अलकार[३] वहाँ होता है जहाँ प्रकृत और अप्रकृत दोनों का एक ही धर्म से कथन होता है। साथ ही वह भी दीपक ही है जिसमें एक ही कारक का अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध रहता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

२ तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो। काव्यप्रकाश १०।१३९।

३. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
" सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ काव्यप्रकाश १०।१५६।

अवेदीद् बुद्धिशास्त्राभ्याम् इह चामुत्र च क्षमम् ।
अरक्षीत् धैर्यवीर्याभ्या इन्द्रियाण्यपि च प्रजा ॥ १५॥ सौ० २।१५॥

यहाँ प्रकृत और अप्रकृत का एक ही धर्म से कथन हुआ है ।

यमक

यमक अलकार मे कवि अपनी प्रतिभा के प्रयत्न से शब्दो का ऐसा विन्यास करता है, जिसमे ध्वन्यात्मक एवं स्वरूपात्मक सादृश्य की प्रतीति होती है । प्रयत्नसाध्य योजना के कारण उसमे स्वाभाविकता नहीं रह पाती, अपितु कृत्रिमता आ जाती है । विप्रलम्भ शृगार मे यमक अलकार की योजना काव्यशास्त्र के द्वारा निषिद्ध है । अश्वघोष ने यमक अलकार के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया है फिर भी उनके काव्य मे उसका सुन्दर प्रयोग हुआ है—

अनेन दष्टो मदनाहिनाऽहिना न कश्चिदात्मन्यनवस्थित स्थित ।
मुमोह बोध्योह्यचलात्मनो मनो बभूव धीमाश्च स शन्तनुस्तनु ॥
स्थिते विशिष्टे त्वयि सश्रये श्रये यथा न यामीह वसन्दिश दिश ।
यथा च लब्ध्वा व्यसनक्षय क्षय व्रजामि तन्मे कुरु शसत सत ॥
सौ० १०।५६, ५७।

अश्वघोष ने जिस यमक का प्रयोग किया है वह स्वभाव मे परवर्ती कवियो के द्वारा प्रयुक्त रूपो से भिन्न है । साधारणत यमक मे वे दो शब्दो मे पुनरावृत्ति करते हैं या पद के अन्त मे जहाँ तुकान्तता सिद्ध करनी होती है वहाँ इसका प्रयोग करते हैं । कहीकही तो तुलनात्मक चमत्कृति को प्रभावशाली बनाने के लिये यमक के प्रयोग मे वे अपने विशेष शब्द कौशल का कलात्मक परिचय देते हैं । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कथंकथाभावगतोऽस्मि येन छिन्न स नि सशय सशयो मे ॥ सौ० १८।८।
कृत्स्नं कृत मे कृतकार्य कार्य । सौ० १८।१०।

अनुप्रास

यह अलकार[1] नादव्यजना के प्रकटीकरण मे सहायक होता है । इसमे रसाद्यनुगत समान वर्णों की आवृत्ति होती है । शब्दो के साम्य से भी अनुप्रास[2] होता है ।

---

१. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुन श्रुति ।
यमकम् । काव्यप्रकाश ९।११७।

२. वर्णसाम्यमनुप्रास (स्वरवैसादृश्येऽपि व्यजनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः) । काव्यप्रकाश ९।१०४।

अश्वघोष के काव्य में भी अनुप्रास की छटा मिलती है—

सा देवता नन्दनचारिणीव कुलस्य नन्दीजननश्च नन्द. । सौ० ४।६।

प्रमदा समदा मदप्रदाः प्रमदा वीतमदा भयप्रदा । सौ० ८।३२।

मूर्ध्ना भयान्नाम ननाम नन्द । सौ० ४।१७।

अन्योक्ति

अन्योक्ति मे अप्रस्तुतविधान की चरमता दृष्टिगोचर होती है। अप्रस्तुत-विधान का मूल उत्स उपमा है और यह परम प्रथित है कि सभी अलकारो के मूल मे उपमा की व्यापक विशदता है। अप्रस्तुतयोजना काव्य-श्री का प्राण है। अन्योक्ति मे अप्रस्तुत अथवा प्रतीको के माध्यम से ही भावो का अभिव्यजन हुआ करता है। यहाँ प्रस्तुत व्यङ्ग्य रहा करता है। भामह इसे अप्रस्तुत-प्रशसा का एक भेद मानते हैं और दण्डी समासोक्ति का।

अन्योक्ति की उपयोगिता उसके व्यञ्जकत्व मे है। काव्य का प्राण भी व्यञ्जक है। व्यंजकत्व का होना उत्तम काव्य के लिये अपरिहार्य है। व्यञ्जकता ही अन्योक्ति को सौन्दर्य प्रदान करती है। डा वी० राघवन ने अन्योक्ति की प्राणवत्ता बताने के लिये कहा है—"यदि काव्य जीवन की समीक्षा है, तो अन्यापदेश (अन्योक्ति) काव्य के सभी प्रकारो मे उत्तम है"[१]।

अश्वघोष ने भी नन्द पर व्यङ्ग्यात्मक प्रहार कर निर्वाण सत्य की ओर उन्मुख करने के लिये अन्योक्ति का सहारा लिया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

कृपण वत यूथलालसो महतो व्याधभयाद्विनि.सृत. ।

प्रविविक्षति वागुरा मृगश्चपलो गीतरवेण वंचित ॥ सौ० ८।१५।

यहाँ अप्रस्तुत मृग के वर्णन से प्रस्तुत नन्द की मार्मिक दशा की व्यजना हो रही है जो कि पूर्णत व्यङ्ग्य है। मृग का प्रस्तुत-विधान अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक है। अप्रस्तुत-योजना की इस कोमल वर्णना से नन्द की जीवन-घटना के रहस्य का सफल उद्घाटन हुआ है।

महता खलु जातवेदसा ज्वलितादुत्पतितो वनद्रुमात् ।

पुनरिच्छति नीडतृष्णया पतितुं तत्र गतव्यथो द्विज ॥ सौ० ८।१९।

यहाँ दावाग्नि से दग्ध होते हुए कान्तारवृक्ष से उड़नेवाले पक्षी के वर्णन से नन्द की मानसिक हलचल की आकृति सामने झलक जाती है। वहाँ कान्तारवृक्ष

---

१. If poetry is a criticism of life, Anyopadesh is poetry above all other types.

Some concept of the Alankār Shāstra P. 83.

दावाग्नि से दग्ध हो रहा है और यहाँ नन्द का जीवन कामाग्नि से जल रहा है, जो कि व्यङ्ग्य है, लेकिन वह पुन: उसी की चाह मे भटक रहा है ।

ऊपर के उदाहरणो से ऐसा प्रतीत होता है कि अश्वघोष ने अन्योक्ति अलंकार की व्यङ्ग्य शक्ति का अत्यन्त निकट से अनुभव किया था। यही कारण है कि अन्योक्ति पद्धति से उन्होने अष्टम सर्ग के कई पद्यो मे जीवन्त शक्ति का सुन्दर समाहार कर दिया है जिससे उसमे अलौकिक काव्यात्मकता आ गई है।

काव्य-कला और भाषा सौन्दर्य

सौन्दर्यमय सत्य की कोमल अभिव्यक्ति ही कला है, अथवा सुन्दर सरणि से अभिव्यंजित अनुभूति ही काव्यकला का रूप ग्रहण कर लेती है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि जिस आकृति मे सप्राणता की झलक मिलती हो उसे कला कहते हैं।

काव्यकला मे यद्यपि अनुभूति का पक्ष प्रबल होता है फिर भी अभिव्यक्ति पक्ष के समुचित समावेश का होना नितान्त आवश्यक है। कलाहीन काव्य की पंक्तियाँ मन-प्राणो को गुदगुदा नहीं सकतीं मानसिक आनन्दानुभव के स्वर को तीव्र नही कर सकती, अतएव अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति की सुन्दर सरणि काव्यकला के लिये अपेक्षित है। अपने आप मे वस्तुतः कोई वस्तु सुन्दर नहीं होती, कलाकार उसे सुन्दर ढंग से रूपान्तरित कर देता है।

कवि अपने काव्य मे जब भावो को दूसरे मे संक्रमित कर देने मे सफल होता है तभी उसकी काव्यकला उत्तम समझी जाती है। काव्य मनोरजन कर आह्लाद उत्पन्न करने का अप्रतिम साधन ही नही है अपितु जीवन के अतलस्पर्शी सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करनेवाला प्राणवन्त दर्पण है। काव्य में लोकमगल की भावना का उत्तमोत्तम विवेचन होता है साथ ही जीवन के प्रत्येक पहलुओ का सम्यक् समीक्षण भी।

काव्यकर्त्ता जब सौन्दर्यमय वस्तुओं का भावन करता हुआ समाधिस्थ हो जाता है या उल्लसित सौन्दर्य सागर को देखकर उत्प्रेरित होता है तब अनुपम काव्यकला की सर्वोत्तम सृष्टि होती है। भाषा सौष्ठव के साथ यदि अर्थ सौन्दर्य का सुष्ठु विन्यास न होगा तब वह सुन्दर नही प्रतीत होगा। फिर भी शब्द विन्यास की अपनी सत्ता है। शब्द सगीत से भी अमित आनन्द होता है। लेकिन अर्थ सौन्दर्य मे जो आस्वादन है वह मन प्राणो को आह्लादपूर्ण कर देता है।

महाकवि अश्वघोष की काव्य शैली अत्यन्त जीवन्त और सरल है। स्वाभाविक सरसता और कोमलता से उनकी काव्य-भारती सवलित दीखती है। गिने चुने शब्दो का सुष्ठु विन्यास और रसानुगत वर्णों का अनुपम अनुप्रास मन-प्राणो को प्रीत करता नजर आता है। भाव के विलास ने और उक्ति की प्रसन्नता ने उनके काव्य मे सहज गेयता उत्पन्न कर उसे प्राणवन्त बना दिया है। माधुरी भरी कविताओं मे सर्वत्र वैदर्भी शैली की कोमलता परिव्याप्त है। सरल शालीन शैली में कवि की रसवन्ती वाणी अपनी कोमल कल्पना के रगीन पख फडकाती है और भावो के उन्मुक्त आकाश में विचरण करती है। छोटे छोटे असमस्त पदों में रची गई उनकी कविता अत्यन्त कोमल और सृजनशील कल्पना से समृद्ध है। उनके पद्यो में समासों का अभाव है। वैदर्भी की यही विशेषता भी है। वैदर्भी शैली मे रची गई कविताओं का सगीत विपची क स्वर सगीत की तरह श्रुतिमधुर और आस्वाद्य होता है[1]। आचार्य द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने उनकी काव्य शैली की प्रशसा में लिखा है — उनकी काव्य-शैली विशुद्ध वैदर्भी है, भाषा प्रसादिकी, भावावेश सुकोमल, प्रकृतिवर्णन अतीव हृदयावर्जक और सर्वतो भावेन यह हृदयगम करने योग्य है[2]। वस्तुत. उनके भाव-जलद पर कल्पना के इन्द्रधनुषी वितान ने सतरगिणी शोभा समाहित कर दिया है। समास रहित और कोमल सरल शब्दों में निर्मित उनकी दो कविताएँ देखिये —

> बिभर्ति हि सुत माता धारयिष्यति मामिति।
> मातर भजते पुत्रो गर्भणाधत्त मामिति॥
> अनुकूलं प्रवर्तन्ते ज्ञातिषु ज्ञातयो यदा।
> तदा स्नेहं प्रकुर्वन्ति रिपुत्व तु विपर्ययात्॥
>
> सौन्दरनन्द १५।३६, ३७।

ऊपर के पद्यों में एक भी समस्त शब्द नहीं है। पढ़ते ही प्रत्येक शब्दों का अर्थ स्वत स्फुट होने लगता है। कोमल सरल शैली की इससे बढ़ कर स्वाभाविक सरसता और क्या हो सकती है? महाकवि अश्वघोष ने इसके द्वारा सरलता की अनुपम सरणि प्रकाशित कर दी है।

---

१. तत्रासमा निर्दोषश्लेषादिगुणगुम्फिता।
विपचीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते। स० क० भ० २।२९।

२ अस्य काव्यशैली तु विशुद्धा वैदर्भी, भाषा प्रासादिकी, भावावेशश्च सुकोमल प्रकृतिवर्णन चातीव हृदयगम, सदित्थ काव्यमिद सर्वतोभावेन हृदयावर्जक सम्पन्नम्। स० सा० वि० पृ० ४५२।

सुभग शब्द-योजना से उनकी कविताओं में भावों की प्रेषणीयता बढ़ गई है। उनके भावों में उदात्त और अनुभूति रंजक रूप मिलता है। उनकी कविताओं में सुभग शब्द मैत्री का स्वरूप अत्यन्त आकर्षक एवं हृदयावर्जक प्रतीत होता है। यथा—

तस्या मुखं तत्पत्तमालपत्रं ताम्राधरौष्ठं चिकुरायताक्षं।
रक्ताधिकाग्रं पतितद्विरेफं सशैवलं पद्ममिवावभासे ॥

सौन्दरनन्द ४।२१

इस पद्य में शब्दों के सुष्ठु विन्यास ने भाषा में सहज कोमलता उत्पन्न कर दी है। भाषा की कोमलता, उपमा की रंजकता और सम्मोहनकारी कल्पना ने इस पद्य को अद्वितीय बना दिया है जैसे नये भाव वैसी ही मणि-कांचन भाषा का संयोग सर्वत्र उल्लसित है।

वैदर्भी की सरल शैली में रची गई एक कविता का आस्वादन अनुभूति-प्रवण हृदय से किया जा सकता है जिसमें सुरुचिसम्पन्न इष्ट पदावली के साथ-साथ अनुपम देशना के सुन्दर भावों का कोमल समाहार लक्षित होता है। यथा—

यथेक्षुरत्यन्तरसप्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते।
तथा जरायन्त्रनिपीडिता तनुः निपीतसारा मरणाय तिष्ठति ॥

सौन्दरनन्द ९।३१

इस पद्य में कवि ने जीवन की क्षणभंगुरता का निर्देश इतने सरल शब्दों में किया है कि *अर्थ पढ़ते ही ध्वनित हो जाता है।* प्रस्तुत और अप्रस्तुत की योजना चिरपरिचित और स्वाभाविक सी लगती है। शब्द स्वयं अपने अर्थ को निवेदित करते जान पड़ते हैं।

कवि ने शब्दों में नादव्यञ्जना का भी कोमल उत्कर्ष दिखलाया है। उनकी कविताओं में भावों को विस्तार प्रदान करने की अनुपम शक्ति है साथ ही सुरुचिसम्पन्न कोमल उदात्तता भी। प्रसादगुण से समलित एक भाव-प्रवण कविता में क्षण क्षण परिवर्तित होने वाले जीवन का कोमल चित्र उपस्थित किया गया है। यथा —

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनं ॥

सौन्दरनन्द ९।२८।

इस पद्य के प्रत्येक शब्द से नादव्यञ्जना हो रही है। 'गतं गतं' शब्द के सुनते ही यौवन के सत्वर परिगमन की बात चक्षु पटल के सामने साकार हो जाती है।

अश्वघोष के काव्य में पदलालित्य और स्वर संगीत की अनुपम रस भरी माधुरी मिलती है। उदार मधुर शब्दों की योजना से श्रुति सुखद कान्त पदावली का सौन्दर्य देखते बनता है—

ताभिर्वृताहर्म्यतलेऽङ्गनाभि चिन्तातनुः सा सुतनुर्बभासे।
शतह्रदाभि: परिवेष्टितेव शशाङ्कलेखा शरदभ्रमध्ये॥ सौ० ६।३७

सरल एवं रसपेशल शब्दों के द्वारा इसमें नन्दपत्नी सुन्दरी के स्वरूप का इतना प्रशस्त एवं भावपूर्ण वर्णन हुआ है कि कोई भी भावक रसाप्लुत हुए बिना नहीं रह सकता। शब्द के अनुपम स्वर संगीत ने तो रसोद्रेक में अप्रतिम क्षमता उत्पन्न कर दी है। शब्दों का कलात्मक विन्यास इष्ट अर्थ का अभिव्यंजन करता प्रतीत होता है।

अश्वघोष के सौन्दरनन्द की लोकप्रियता एवं सर्वजनीनता उसकी असाधारण प्राजलता पर निर्भर करती है। इसकी भाषा, बोधगम्य प्रशान्तगम्भीर और सहृदय संवेद्य है। इसमें भावों की अभिव्यंजना प्रणाली एवं इसके प्रकाशन की भंगिमा भी अपूर्व है। यह विश्रुत है कि सौन्दरनन्द का अध्ययन और अध्यापन भारत में बुद्धचरित की अपेक्षा अधिक होता था। इसका कारण वस्तुतः सौन्दरनन्द की वैदर्भी-प्राण भाषा ही है जिसके श्रवणमात्र से अर्थ की प्रतीति होने लगती है। जिस काव्य की ललित सूक्तियाँ जन-जन की लोल जिह्वाओं पर थिरकती रहती हैं, समझिये वह औरों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय और सार्वजनीन है। सौन्दरनन्द की एक ललित सूक्ति का रसास्वादन अपेक्षित है। यथा—

वचनेन हरन्ति वल्गुना निशितेन प्रहरन्ति चेतसा।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालाहलं महद्विषम्॥
सौन्दरनन्द ८।३५।

कवि अपने कविकर्म के मर्म को सहृदय भावुकों के अन्तःकरण तक सम्प्रेषण के लिये भाषा का साहाय्य लेता है। भाषा संकेत के बिना कवि के पास कोई अन्य प्रभावोत्पादक साधन नहीं होता। कवि जिस चातुर्यपूर्ण कला के साथ इस साधन का उपयोग करता है उसकी अभिव्यक्ति की ऊंचाई उतनी ही उत्कृष्ट और प्रेषणीय होती है। प्रांजल और कोमलकान्त भाषा ही अनुभूतिभूषित भावों को वहन करने में समर्थ होती है। कवि अश्वघोष की भाषा सुघर और सुकर है। सुघरता और सुकरता के समन्वय ने कवि की भाषा में अपूर्व मधुरता का समन्वय कर दिया है। उनके भाव भाषा के अनुवर्ती हैं और भाषा भावों की अनुवर्तिनी। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनाभ्युन्नतपद्मकोषा ।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥

सौन्दरनन्द ४।४।

ऊपर की पंक्तियों की भाषा श्रेष्ठ काव्य की सरल और अभिव्यंजक भाषा है। साङ्गरूपक की भव्य चारुता से ओत प्रोत भाषा के द्वारा कवि ने मुस्कान रूप हंसवाली, नयन रूप भ्रमरवाली तथा उन्नत उदात्त उरोज रूप विकसित पद्मकोशवाली, सौन्दर्यप्राण स्त्री रूप पद्मिनी सुन्दरी का कलात्मक चित्रण किया है। इस कविता के उत्कर्षक भावों की विभूति से कोई भी अधीति अभिभूत हो मन प्राणों को जुड़ा सकता है। प्रत्येक शब्द हृदयद्रावक रस-बोध की क्षमता से संश्लिष्ट है। साथ ही अन्त्यानुप्रास की सांगीतिक मधुरिमा से कविता मे लयात्मक लोच आ गयी है।

अश्वघोष की संस्कृत पाणिनीय व्याकरण की नियमिति मे नहीं बँधती। वे भाषा प्रयोग मे स्वच्छन्द दीखते हैं। हाँ कुछ स्थलों के प्रयोग *भट्टिकाव्य* की याद अवश्य दिलाते हैं[1]।

इन प्रयोगो मे प्राचीनता की जो झलक मिलती है वह अश्वघोष के अनुरूप ही है। अश्वघोष उस काल के कवि हैं जिस समय संस्कृत की गठन जमकर तैयार नहीं हो पाई थी, अतएव उनके प्रयोग कुछ भव्य नहीं भाते।

सौन्दरनन्द की भाषा महाकाव्य (एपिक) संस्कृत और वैयाकरणों के स्वर्णयुगीन (क्लासिकल) संस्कृत के मध्य की लक्षित होती है। अश्वघोष की भाषा का साम्य बौद्ध संस्कृत से न होकर महाभारत की संस्कृत से है जो अपेक्षाकृत समीचीन मालूम पड़ता है। वैसे कुछ प्रयोग जो स्वर्णयुगीन (क्लासिकल) संस्कृत से नहीं मिलते, वह पाण्डुलिपिकों की भ्रान्ति ही है।

---

१. (क) अवधिष्ट गुणैः शश्वदवृधत् मित्रसम्पदा ।
अवर्तिष्ट च वृद्धेषु नावृतद् गर्हिते पथि ॥
(ख) शरैरशीशमच्छत्रून् गुणैर्बन्धूनरीरमत् ।
रन्ध्रैर्नाचूचुदद् भृत्यान् करैः नापीपिडत् प्रजा ॥

सौन्दरनन्द २।२६ और २७।

(ग) ररोद मम्लौ विरराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ ।
चकार रोषं विचकार माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम् ।

सौ० ६।३४।

(इसमे कवि ने लिट् के बारहों रूपो का प्रयोग कर अपने व्याकरणिक पाण्डित्य का कौशलपूर्ण प्रदर्शन किया है।)

अश्वघोष की कविताओं मे कुछ शब्दो के विचित्र प्रयोग मिलते हैं। उदाहरण के लिये सर्प, धर्म्मन्, पुष्पवर्ष प्रविद् आदि अप्रचलित शब्द जो स्वर्णयुगीन (क्लासिकल) संस्कृत मे नही मिलते, अश्वघोष के दोनों काव्यों (बुद्धचरित, सौन्दरनन्द) मे मिलते हैं। वर्ण शब्द का (२.५३) नपुंसक लिंग मे प्रयोग तथा श्रद्धानता (१२-३०, (मनुसंहिता मे उद्धृत-श्रद्धानवत्) का प्रयोग विचित्र लगता है।

अश्वघोष की भाषा में सांख्ययोग, राजधर्म और भारतीय विज्ञान की शब्दावलियाँ भी मिलती हैं जिसका प्रभव (स्रोत) सम्भवतः महाभारत का शान्ति-पर्व रहा हो। उदाहरण के लिए लेखर्षभा, सक्रन्दन, प्रतिसंख्यान, माया, अम्बर इत्यादि द्रष्टव्य हैं। साधारण शब्दो मे—यथा, अवि (पर्वत के अर्थ मे), अर्थवत् (मनुष्य के अर्थ मे), वल्लरी (पंख के अर्थ में) ये सभी शब्द विशेष अर्थ के प्रतिपादक के रूप मे प्रयुक्त हुए प्रतिलक्षित होते हैं।

कवि की भाषा मे कहीं कहीं परिश्रमसाध्य और कृत्रिम सजावट भी उपलब्ध होती है। बहुधा अश्वघोष किसी वस्तु का चित्रण सुगठित एवं वर्णनात्मक मुहावरो मे करते हैं जिसमे लयात्मकता की कमी मालूम पडती है। यद्यपि इनकी काव्य शैली महाकाव्य (एपिक) की शैली से भिन्न है, किन्तु इसमें दिखने वाले तत्त्व महाकाव्य (एपिक) के स्वभाव के अनुकूल हैं। परिश्रमसाध्य रचना का कुछ उदाहरण दिया जा सकता है। यथा—

क—कुलस्य नन्दी जननश्चनन्दः। सौ० ४.६।
ख—कृत्स्नं कृतं मे कृतकार्यकार्ये। सौ० १८।१०।
ग—अग्निद्रुमाज्याम्बुपु या हि वृत्तिः
कबन्ध वाय्वग्निदिवाकराणां॥
दोषेषु तां वृत्तिमियाय नन्दो
निर्वापणोत्पाटनदाहशेषैः॥ सौ० १७।५९।

ऊपर के पद्यों की पदावली प्रयाससाध्य प्रतीत होती है। वाक्यों मे नाद-व्यंजना लाने के लिये वर्णो का सानुप्रासिक विधान तो कवि ने अवश्य किया है, किन्तु उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो गयी है। शब्दावली स्वाभाविक एवं स्पन्दनरहित होने के कारण चित्रात्मक नहीं हो पायी है। भावों को हृदयंगम कराने में काव्यबन्ध के शब्द शिथिल मालूम पडते हैं।

सजातीय कर्म के प्रयोग की चाह सम्भवतः अश्वघोष को पूर्ववर्ती रचनाओं के दर्शन से हुई मालूम पडती है। काव्यो में क्रिया रूपों की बहुलता दृष्टिगोचर होती है। काल का प्रयोग सामान्य रूप से हुआ है जिसमें लुङ्, लङ् लिट् का

कोई भेद लक्षित नही होता। सम्बन्धवाचक 'च' और विस्मयादि बोधक 'हि' का प्रयोग उन्होंने वाक्य के अन्त मे केवल प्रभावोत्पादन के लिये किया है।

अश्वघोष के काव्य मे शब्दो और वाक्यखण्डों की बहुत पुनरावृत्ति मिलती है। इसे देखकर कुछ आलोचक कहते हैं कि अश्वघोष की प्रतिभा उतनी प्रौढ़ और जीवन्त नहीं थी—लेकिन बात ऐसी नहीं है। अश्वघोष ने अपने काव्य की रचना अपनी काव्यकला के प्रदर्शन के लिये नही की थी, अपितु शान्ति और मुक्ति के चिरन्तन सत्य के अन्यतम प्रकाशन के लिये। उनके काव्य का अभिप्राय आनन्द और मनोरंजन मात्र नही है वरन् अनिर्वचनीय एव प्रणीततर निर्वाण की परमोपलब्धि है। सांसारिक अभिलाष का सर्वथा त्याग कर परोपकार की भावना से समन्वित हो, बौद्ध दर्शन एव आचार धर्म का उपदेश करना ही उनका लक्ष्य था। इस अवस्था मे काव्य सौन्दर्य एव शैली मे कलात्मकता लाने का अवकाश महाकवि अश्वघोष के पास न था। काव्य के माध्यम से उनका एक मात्र लक्ष्य बौद्ध दर्शन मे उन व्यक्तियों को आकृष्ट करना था जिनको रसशून्य कथन पूर्णत अभिभूत नही कर पाते थे। उन्होंन स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—

> 'इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृति ।
> श्रोतॄणा ग्रहणार्थमन्यमनसा काव्योपचारात्कृता ॥' सौ० १८।६३ ।

मोक्ष धर्म की व्याख्या से समवेत यह रचना शान्ति प्रदान के लिये है आनन्द एव रति सुख के लिये नही। धर्म मे न रीझनेवाले अन्यमनस्क श्रोताओ को आकृष्ट करने के लिये ही इस रचना का निर्माण काव्य शैली मे किया गया है।

अतएव उनके काव्यो मे पुनरावृत्ति का होना, उनकी प्रतिभा का अपकर्षक नही समझा जायगा, क्योंकि बौद्ध के धर्म सिद्धान्तों को सरल ढंग से समझाने के लिये ही उन शब्दों की इसमे अनायास आवृत्ति हो गयी है—फिर भी यह सक्षम कलाकार क लिये उतना शोभन नहीं। पुनरावृत्ति के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मुखेन साचीकृतकुण्डलेन। सौ० ४।१९।
मुखेन तिर्यङ्नतकुण्डलेन। सौ० ६।२।
गिरमित्युवाच। सौ० ६।२०।
मुनिर्विरागो गिरमित्युवाच। सौ० १०।४७।
ययुश्च यास्यन्ति च यान्ति चैव सौ० ५।४३।
चक्रु करिष्यन्ति च कुर्वते च। सौ० ७।१३।
चेरुश्चरिष्यन्ति चरन्ति चैव। सौ० ७।१३।
विहाय धैर्यं विललाप तत्तत्। सौ० ७।१२।

सङ्कल्प्य तत्तद् विललाप तत्तत् । सौ० ६।१२ ।
कृताञ्जलिर्वाक्यमुवाचनन्द' । सौ० १०।४९ ।
स्तवेषु निन्दासु च निर्व्यपेक्ष ।
कृताञ्जलिर्वाक्यमुवाचनन्दः । सौ० १८।३९ ।
न चात्र चित्र यदि । सौ० ९।३ ।
किमत्र चित्र यदि । सौ० १६।८४ ।

दृष्टान्त के लिये ऊपर समाम्नात उदाहरणो मे शब्दों की ही नही पदावलियो एव वाक्य खडो की भी बहुश पुनरावृत्ति लक्षित होती है । कही कही तो सम्पूर्ण श्लोक ही पुनरावृत्त है। ऐसी प्रतीति होती है मानो अश्वघोष को अपनी काव्यकला के निखार और भराव के लिये कोई विशेष जागरूकता ही नहीं थी वे केवल ललित वाणी मे बौद्धधर्म के सुन्दर व्याख्यान में ही सलग्न थे।

महाकवि अश्वघोष केवल कवि, उपदेशक और अर्हत् बौद्ध भिक्षु ही नहीं थे, अपितु भारतीय वाङ्मय के चतुरस्र ऋषिकल्प विद्वान् भी थे। अश्वघोष का शब्दकोष अपने आप में बहुत विशाल और अपरिमित है। वे इच्छानुकूल विशिष्ट कलाकार की भाँति शब्दो का अप्रतिम विन्यास करते हैं। परम उल्लेखनीय बात यह है कि उनके सौन्दरनन्द महाकाव्य मे इच्छार्थक क्रिया रूपो का प्रयोग प्रचुर रूप मे मिलता है, जो कविकुलगुरु कालिदास, भास तथा अन्य कवियों में दृष्टिगत नही होता।

यथा—

विशेष्य रूप—

[1]दित्सा (देने की इच्छा, २-५), [2]बुभुत्सा (जानने की इच्छा, ३-६), [3]जिगीषा (जीतने की इच्छा, ५ ३२), [4]विनिनीषा (विनीत करने की इच्छा, ३-२१), [5]जिघांसा (मारने की इच्छा, ११-८), [6]आरुरुक्षा (चढने की इच्छा, ५-४०), [7]तितीर्षा (पार करन की इच्छा, १४-१७), [8]चिकीर्षा (करने की इच्छा, ८-९)।

---

१. अभवद्यो न विमुखस्तेजसा दित्सयैव च, २।५ ।
२. अस्य निश्चयविधित्सुंर्बुभुत्सया ३ ६ ।
३ जिगीषया शूर इवाहवस्थ ५।३२ ।
४. विनिनीषया गगनमुत्पपात ह, ३-२१ ।
५. प्रणयान्न जिघांसया, ११ ८ ।
६. शिव कथ ते पथि नारुरुक्षा, ५।४० ।
७ दु खौघस्य तितीर्षया, १४।१७ ।
८. स जगाद तदस्थिकीर्षितं, ८।९ ।

विशेषण रूप—

[1]यियासु (जाने का इच्छुक, २–६), [2]दिदृक्षु (देखने का इच्छुक, २–४६), [3]निमुर्मुक्षु (मोक्ष का इच्छुक, ५–५), [4]जिजीविषु (रहने का इच्छुक), ६–२३), [5]विविक्षु (प्रवेश करने का इच्छुक, ८–७), [6]जिघांसु (मारने का इच्छुक, १०–४३)।

निम्न उदाहरणों से अश्वघोष के व्याकरणिक कौशल का भी दर्शन होता है। यथा—

प्रधान क्रिया का रूप—

(क) प्रविविक्षति[1] (वह प्रवेश करना चाहता है, ८।१५)।
तितीर्षति[2] (वह पार करना चाहता है, ८।१७)।
जिघृक्षति[3] (वह पकडना चाहता है, ८।१८)।
असमापिका[4] क्रिया और कृदन्तीय रूप—

(ख) चिकित्सयित्वा[1] (जानबूझ कर, ४।१४)।
जिघृक्षन्[2] (पकड़ने की इच्छा करते हुए, ५।५)।
उज्जिहीर्षन्[3] (उबारने के लिये, ५।१८)।
चिकीर्षत[4] (इच्छा किया, १२।२६)।

संज्ञा से जुड़ी हुई विशेषण सम्बन्धी क्रियायें—

---

१. यियासु धर्मपद्धति, २।६।
२. धर्मचर्या दिदृक्षव, २।४६।
३ स्व चावसग पथि निर्मुमुक्षु, ५।५।
४ जिजीविषुस्त्वस्परितोषहेतो, ६ २३।
५ व्यवसाय प्रविविक्षुरात्मन॰, ८।७।
६ राग तथा तस्य मुनिर्जिघांसु १०।४३।

(क) १ प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो . ८।१५।
२ जलतर्षवशेन तां पुन सरित ग्राहवती तितीर्षति, ८।१७।
३ स्वयमुग्र भुजग जिघृक्षति, ८।१८

(ख) १ चिकित्सयित्वा निजघान नन्द, ४।१४।
२ न द च गेहाभिमुख जिघृक्षन्, ५।५।
३ स्नेहपङ्कान्मुनिरुज्जिहीर्षन्, ५ १८।
४ मानार्हं ते चिकीर्षत, १२।२६।

(ग) करुणायमानः[1] (दया का अनुभव करते हुए, ५।२१)।
 मन्दायमानः[2] (मन्द होते हुए, १६।५६)।

सौन्दरनन्द में कुछ विलक्षण शब्द भी मिलते हैं, जिसका प्रयोग कवि ने अन्य अर्थों में किया है। शब्दों के इन विचित्र प्रयोगों से यह पता चलता है कि ये शब्द सम्भवत. अश्वघोष के पूर्व प्रचलित थे। यह भी हो सकता है कि अश्वघोष ने अपनी मौलिकता के प्रदर्शन के लिये इन शब्दों का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया हो।

कुछ विलक्षण प्रयोग द्रष्टव्य हैं। यथा—
विनाकृत[1] (विलग—पृथक् किया हुआ, ८।२०)।
तर्ष[2] (प्यास-इच्छा, २।१९)।
अकथंकथ[3] (अनिच्छुक, ८।३२)।
नन्दी[4] (आनन्द, ८।४४)।
विभीः[5] (डरा हुआ, भयभीत १७।६१)।
श्रद्धानता[6] (विश्वास, १२।३०)।

उक्त विवेचन से कवि की काव्यशैली, भाषा और व्याकरणिक प्रयोगों की कुशलता का दिग्दर्शन होता है। यद्यपि उनकी संस्कृत में पाणिनीय व्याकरण के नियमों का पालन पूर्ण रूप से नहीं हुआ है तथा कहीं कहीं व्याकरण विरुद्ध एवं अव्यवस्थित प्रयोग दीखते हैं, फिर भी उनकी शब्दावली प्रारम्भिक महाकाव्य के लिये उपयुक्त है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है वह उनके भावों के अनुकूल और समस्वरित। वाग्वैदग्ध्य से युक्त सूक्तियों के समाहार से उनकी भाषा की व्यंजकता बढ़ गई है। शब्दों का विन्यास गठित और परिमार्जित है। कवि की सबसे बड़ी विशेषता उनकी भाषा की सरलता है जो मार्मिक होने के कारण सीधे हृदय को स्पर्श कर लेती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उनकी भाषा अर्थ-सम्पदा से युक्त और व्यञ्जनापूर्ण है, साथ ही उसके प्रकाशन की शैली सजीव, आकर्षक एवं मर्मस्पृक् है।

(ग) १ दृष्ट्वा मुहूर्त करुणायमानः, ५।२१।
 २ मन्दायमानोग्निरिवेन्धनेन, १६।५६।
 १. प्रियया श्येनभयाद्विनाकृतः। ८।२०।
 २ गामधर्मेण नाधुक्षत्क्षीरतर्षेण गामिव। २।१९।
 ३. अर्धामिष्टामयकथन्न कथामकथंकथः। ८।३२।
 ४ नन्दीक्षयाच्च क्षयमेति रागः। ८।४४।
 ५. विभीर्विशुद्धीतमदो विराग.। १७।६१।
 ६. श्रेयसि श्रद्धानता। १२।३०।

छन्द योजना

लय और स्वर की समन्विति ही छन्द है[1]। स्वर और लय से नियन्त्रित भावधाराएँ अपनी गति को समजित करती हुई प्रस्फुटित होती हैं। छन्द की यो भी स्वतन्त्र सत्ता नही है, उमे तो अर्थ सौन्दर्य के द्वारा नियन्त्रित रहना होता है स्वर और लय की सम्पूर्णता से काव्य का सगीत तत्व स्फूर्त होता है अतएव काव्य के लिये छन्द की परम आवश्यकता है। कविता के अन्त मे सन्निहित भावधाराओ की अभिव्यक्ति लयात्मक स्वरप्रधान छन्द से ही हो सकती है।

छन्द के सम्बन्ध मे हिन्दी के अप्सुरालोक के कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त की उक्ति द्रष्टव्य है —

"कविता तथा छन्द के बीच बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणो का सगीत है, कविता का स्वभाव ही छन्द मे लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से ही धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिसके बिना वे अपनी ही बन्धनहीनता मे अपना प्रवाह खो बैठती हैं, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दो के रोडो मे एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियन्त्रित साँसे नियन्त्रित हो तालयुक्त हो जाती हैं, उसके स्वर मे प्राणायाम, रोमो मे स्फूर्ति आ जाती है, राग को असम्बद्ध झकारें एक वृत्त मे बध जाती हैं, उनमे पूर्णता आ जाती है[2]।"

कविवर पत के इस कथन से यह स्पष्ट है कि छन्द के बिना काव्य के रागात्मक तत्व की सुरक्षा नही हो सकती है। क्योकि छन्द रूपी दो किनारो के बीच बहती भाव धारा मे ही शब्द, ताल और लय से युक्त हो नृत्य करते आगे बढ़ते हैं।

महाकवि अश्वघोष ने भी अपनी कविताओं के सरस भावो को छन्द की लयात्मकता मे समजित कर दिया है। यद्यपि छन्द रचने मे वे प्रयत्नशील नहीं जान पडते फिर भी उनके छन्दो मे विविधता और विचित्रता मिलती है। सबसे मनोरंजक तथ्य तो यह है कि सौन्दरनन्द मे तुकान्त कविताओ (Rhymed verse) की उपलब्धि होती है। इस तरह की कविताएँ

---

१ गतिसयमश्छन्द । अ० ना० शा० पृ० ।

(चन्दयति आह्लादयति चन्द्रयतेऽनेन वा । चदि आह्लादे + चन्देरा-देश्च छ ' इति चस्य छश्च) शब्दकल्पद्रुम–पृ० ४६६ ।

२ पल्लव की भूमिका ।

हमें रामायण और महाभारत में भी मिल जाती हैं, लेकिन बाद के काव्यों में बहुत ढूँढ़ने पर ही तुकान्त कविताएँ मिल पाती हैं।

संस्कृत वाङ्मय में अतुकान्त कविता लिखने की प्रवृत्ति रही है। अश्वघोष ने भी अतुकान्त कविताएँ ही लिखी हैं, लेकिन उनमें तुकान्त कविताओं की आनुप्रासिक संगीतिमयता की भी मनोहर झलक मिलती है। तुकान्त कविताओं की भी उनके काव्य में कई श्रेणियाँ मिलती हैं। यथा—

सा रोदनारोषितरक्तदृष्टिः सन्तापसंक्षोभितगात्रयष्टिः

पपात शीर्णाकुलहारयष्टिः फलातिभारादिव चूतयष्टिः ॥ ६।२५ ॥

दरीचरीणामतिसुन्दरीणां मनोहरश्रोणिकुचोदरीणाम्

वृन्दानि रेजुर्दिशि किन्नरीणां पुष्पोत्कचानामिव वल्लरीणाम् ॥ १०।१३ ॥

स दुःखजालान्महतो मुमुक्षुः विमोक्षमार्गाधिगमे विविक्षुः।

पन्थानमार्यं परमं दिदृक्षुः शमं ययौ किंचिदुपात्तचक्षुः ॥ १७।१३ ॥

ऊपर के तीनों पद्यों की चारों पंक्तियों में स्वर मैत्री और अन्त्यानुप्रास का अपूर्व सौन्दर्य है। प्रत्येक पंक्ति अपने स्वरों के आरोह अवरोह के साथ एक दूसरे में समंजित होकर अनुपम लयात्मक संगीत की सृष्टि करती है। अनुभूति की अन्तर्धारा अन्त्यानुप्रास के संगीतस्वर में उत्कर्षित हो गई है।

नमोऽस्तु तस्मै सुगताय येन हितैषिणा मे करुणात्मकेन।

बहूनि दुःखान्यपवर्तितानि सुखानि भूयांस्युपसंहृतानि ॥

सौ०, १७।६३।

इस श्लोक की प्रथम और द्वितीय पंक्ति में, तथा तीसरी और चौथी पंक्ति में स्वर सामंजस्य दीखता है। यह कवि की अनुभूतियों के उतार चढ़ाव का सूचक है, जैसी भावधारा हृदय में उफनी, छन्द ने वैसा ही रूप धारण कर लिया।

अन्योन्यसंरागविवर्धनेन तद्द्वन्द्वमन्योन्यमरीरमच्च।

क्लमान्तरेऽन्योन्यविनोदनेन सलीलमन्योन्यममीमदच्च ॥

सौ० ४।११।

इस पद्य की पहली और तीसरी तथा दूसरी और चौथी पंक्ति में अन्त्यानुप्रासिक लय मिलती है। छन्द में भीतर भी रसनिर्भर वृत्त्यनुप्रास की छटा और यमक के सौन्दर्य ने छन्द की भावधारा में एक और नूतन प्रवाह की सृष्टि कर दी है। छन्द की इस विविधता में कवि की भावुक और कल्पनाशील मनोवृत्ति के रहस्य का उद्घाटन होता है। अश्वघोष ने छन्द के विविध प्रयोगों के द्वारा अध्ययन के समय आनेवाली नीरसता को दूर कर दिया है। इस तरह विविध छन्दों के प्रयोग में उनकी कुशलता अभिलक्षित होती है।

अश्वघोष अनुष्टुप् और उपजाति के सधे और प्रौढ़ कलाकार हैं। अनुष्टुप् में उनका मन अत्यधिक रमता है। यों सांगीतिक सृष्टि की दृष्टि से रुचिरा तथा प्रहर्षिणी का प्रयोग अधिक सफल मालूम पड़ता है। अश्वघोष ने सौन्दरनन्द काव्य में लगभग पन्द्रह छन्दों का प्रयोग किया है। यथा—

अनुष्टुप, उपजाति, *प्रहर्षिणी*, रुचिरा, *वसन्ततिलका*, *शिखरिणी*, *कुसुमितलतावेल्लिता*, शार्दूलविक्रीडित, सुवदना, पुष्पिताग्रा, सुन्दरी, उद्‌गता, वंशस्थ, अपरवक्त्र, धर्मा।

परम आश्चर्य की बात यह है कि महाकवि अश्वघोष की कविता में मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग नहीं मिलता, यहाँ तक कि उनके नाटकों में भी इस छन्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वस्तुतः यह जान पड़ता है कि इसके मूल प्रयोक्ता कविकुलगुरु कालिदास ही हैं। इस छन्द की उपलब्धि कवि हरिषेण द्वारा लिखी एक समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में भी होती है—हो सकता है यह कालिदास का समकालिक हो। फिर भी यह मान्य है कि मन्दाक्रान्ता का बीज अश्वघोष के सौन्दरनन्द में वर्तमान है।[1] संभव है कालिदास ने अश्वघोष के *द्वारा प्रयुक्त छन्द के ही स्वरूप में ईषत्* परिवर्तन कर उसका नया-निर्माण किया हो।

सौन्दरनन्द में प्रयुक्त छन्दों का क्रम इस प्रकार है—

अनुष्टुप्	प्रथम सर्ग	१-५८
	द्वितीय सर्ग	१-६२
	एकादश सर्ग	१-५८
	द्वादश सर्ग	१-४२
	त्रयोदश सर्ग	१-५४
	चतुर्दश सर्ग	१-४५
	पञ्चदश सर्ग	१-६५

---

१. *यावत्तत्त्वं न भवति हि दृष्टं श्रुतं वा*
तावच्छ्रद्धा न भवति बलस्था स्थिरा वा।
दृष्टे तत्त्वे नियमपरिभूतेन्द्रियस्य
श्रद्धावृक्षो भवति सफलश्चाश्रयश्च ॥ सौ० १२।४३।

यह छन्द संस्कृत साहित्य में अनुपलब्ध है। यह सौन्दरनन्द में प्रयुक्त अश्वघोष का स्वकीय है।

उपजाति	प्रथम सर्ग	६०
	द्वितीय सर्ग	६३
	चतुर्थ सर्ग	१–४४
	पञ्चम सर्ग	१–५२
	षष्ठ सर्ग	१–४८
	दशम सर्ग	१–५३
	चतुर्दश सर्ग	४६–४९
	सप्तदश सर्ग	१–७०
	अष्टादश सर्ग	१–४२
वैशस्थ	चतुर्थ सर्ग	४५
	नवम् सर्ग	१–४९
	दशम् सर्ग	५४–६३
	पंचदश सर्ग	६६–६७
	अष्टादश सर्ग	४४–४९
रुचिरा	दशम सर्ग	६४
प्रहर्षिणी	प्रथम सर्ग	६१
	सप्तदश सर्ग	७१–७३
वसन्ततिलका	प्रथम सर्ग	६२
पंचम	पंचम सर्ग	५३
	सप्तम सर्ग	४८–५१
	अष्टम सर्ग	५८–५९
	नवम् सर्ग	५१
	अष्टादश सर्ग	६१
शर्मा	द्वादश सर्ग	४३
	त्रयोदश सर्ग	७२
शिखरिणी	अष्टम सर्ग	६०–६१
	चतुर्दश सर्ग	५०–५२
	पंचदश सर्ग	६८–६९
	षोडश सर्ग	९५–९७
कुसुमितलतावेल्लिता	सप्तम सर्ग	५२
शार्दूलविक्रीडित	अष्टम सर्ग	६२
	एकादश सर्ग	६०–६१
	षोडश सर्ग	९८

	अष्टादश सर्ग	६२–६३
सुवदना	एकादश सर्ग	६२
	अष्टादश सर्ग	६४
असमवृत्त–		
सुन्दरी	अष्टम सर्ग	५६
अपरवक्त्र या वैतालीय	अष्टम सर्ग	५९
पुष्पिताग्रा	तृतीय सर्ग	४२
	चतुर्थ सर्ग	४६
	षष्ठ सर्ग	४९
	नवम् सर्ग	५०
	अष्टादश सर्ग	६०
विषमवृत्त उद्गता	तृतीय सर्ग	१–४१
उपस्थितप्रचुपित	द्वितीय सर्ग	६४–६५

चतुर्थ अध्याय

बौद्धधर्म-दर्शन विवेचना, चतुष्टय आर्य सत्य, ध्यान, योग और समाधि, निर्वाण, बौद्ध-धर्म में नारी का स्थान

बौद्ध-धर्म का दार्शनिक विवेचन

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्तिकटुभेषजम्॥ काव्यालंकार, ५।३।

कोमल एवं ललित वाङ्मय के द्वारा बौद्ध-धर्म एवं दर्शन का चर्तुदिक् प्रसार करना ही महाकवि अश्वघोष को अभीष्ट था, क्योंकि रूक्ष एवं दुरूह दार्शनिक तत्त्वज्ञान मोहाभिभूत हृदय के द्वारा सद्यः ग्राह्य नहीं होता। अश्वघोष को यह पूर्णतः ज्ञात था कि जिस प्रकार एक सुन्दरी अपनी रसभरी मीठी बातों से अपने प्रियतम को प्रसन्न कर अभीष्ट का सम्पादन करा लेती है उसी प्रकार यह कोमल कलेवर वाली कविता भी सहृदयों को सद्यः आवर्जित कर अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। सच्ची अनुभूतियों की सरस अभिव्यक्ति होने के कारण यह सहृदयों के कोमल हृदय पर अपना अमोघ प्रभाव जमा देती है। कविता धर्म एवं दर्शन के रूक्ष तत्त्वों को प्रत्येक जनता के सन्निकट पहुँचाने के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। यही कारण है कि अश्वघोष ने बौद्ध-धर्म एवं दर्शन के तात्त्विकज्ञान को जन-जीवन तक पहुँचाने के लिये प्रसन्न पदावली से समन्वित काव्य कला का आश्रय लिया है और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का कोमल कलेवर प्रदान करने में उन्हें अद्भुत सफलता भी मिली है।

साहित्य में धर्म और दर्शन का जब एकत्र समन्वय होता है तब वह मानवता के विकास की चरम परिणति समझा जाता है। साहित्य और दर्शन दोनों हृदय और मस्तिष्क, ज्ञान और अनुभूति की तरह परस्परापेक्षित हैं। प्रेम और विचार जैसे एक ही पुरुष की अभिव्यक्ति के दो स्वरूप हैं, उसी प्रकार साहित्य और दर्शन भी एक ही कवि के ज्ञान और अनुभूति का सर्वोत्तम निदर्शन है, दर्शन जहाँ रूखा एवं अनुरागशून्य है, वहाँ साहित्य रसपेशल एवं रागात्मक है। साहित्य सहृदयों के हृदय की विहार-भूमि है, अतएव यह जन सामान्य के लिये भी बोधगम्य एवं सुलभ है। लेकिन दर्शन अनुराग-शून्य होने के कारण सबको अभीष्ट नहीं है, किन्तु साहित्य के माध्यम अभिव्यक्त दर्शन अपनी शुष्कता को छोड़कर रसपेशल हो जाता है।

विद्वान् भी अवगाहन कर सकें। अश्वघोष को किसी सम्प्रदाय विशेष की चिन्ता नहीं थी, क्योंकि उनका ध्येय तो बौद्ध-धर्म के आध्यात्मिक ज्ञान की विशिष्टता से प्रत्येक प्राणी को परिचित कराना था। सहज और उदार व्यक्तित्व के कारण उन्हें बौद्ध धर्म की सभी शाखाओं से अनुराग था, किसी से ईर्ष्या नहीं। बौद्ध-धर्म की साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर उन्होंने ऐसे पद की प्राप्ति कर ली थी, जिन्हें अनिमेष निहारने के लिये सभी सम्प्रदाय के लोग लालायित थे। सौन्दरनन्द मे हमे उनकी उदारतापूर्ण समन्वयवादी प्रवृत्ति का दर्शन होता है। एक ओर जहाँ वे हीनयानी प्रवृत्ति का उल्लेख करते हैं, वहाँ दूसरी ओर महायान की उदार प्रवृत्ति की भी प्रशंसा करते हैं। साम्प्रदायिक दृष्टि से यद्यपि वे सर्वास्तिवादी एव वैभाषिक प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके अभिव्यक्त विचारो से जो महायानी स्वरूप लक्षित होता है उससे किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचना सभव नहीं। जापान में अश्वघोष को अवतंसक-सूत्र का आचार्य तथा बौद्ध-धर्म का बारहवाँ गुरु माना जाता है। यह स्पष्ट है कि ये दोनों सम्प्रदाय महायान के अन्तर्गत् आते हैं। महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र के रचयिता होने के नाते, जापान मे महायानी आचार्य के रूप मे इनको प्रतिष्ठा है। किन्तु कुछ विद्वानो के अनुसार यह अश्वघोष की रचना नहीं है, क्योंकि *शून्यवाद और विज्ञानवाद की जो समन्वयात्मक स्थापना इस मे मिलती है*— वह अत्यन्त प्रौढ एवं विकसित है। यह निर्विवाद सत्य है कि शून्यवाद के प्रौढ आचार्य नागार्जुन थे जो अश्वघोष से करीब दो शतक बाद प्रतिष्ठित हुए। साथ ही विज्ञानवादी आचार्य वसुबन्धु का समय भी अश्वघोष से तीन शतक बाद है। अतएव कुछ विद्वान् इसे अश्वघोष की रचना मानने मे सन्देह प्रकट करते हैं। सौन्दरनन्द मे अश्वघोष ने योगाचार[1] शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अभिप्राय संभवतः योगाभ्यास ही है। योगाचार सम्प्रदाय नहीं। पालि के ग्रन्थो म भी 'योगावचर' शब्द योगाभ्यास के ही अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जान्स्टन ने अश्वघोष को महासांघिक या बहुश्रुतिक सम्प्रदाय का अनुयायी बताया है[2]। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने भी इसी मत को स्वीकार किया है[3]। किन्तु तिब्बती गवेषणाओ के आधार पर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अश्वघोष को सर्वास्तिवादी सिद्ध किया है।[4] यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि

---

१. सौन्दरनन्द, १४।१६।

२. जान्स्टन द्वारा सम्पादित बुद्धचरित की भूमिका, पृ० ३१।

३. हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत लिटरेचर, प्रथम भाग, पृ० ६९।

४ दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५६९।

महाराजा कनिष्क के समय मे 'विभाषा' के सम्पादन के लिये जो संगीति बुलायी गयी थी उसकी अध्यक्षता अश्वघोष ने की थी। अत. यह संभव है कि वे सर्वास्तिवादी स्थविर रहे हो। लेकिन जहाँ तक मुझे प्रतीत होता है मैं उन्हे *समन्वयवादी दार्शनिक उपदेष्टा ही मानता हूँ। भगवान् बुद्ध की भक्ति मे उनका* हृदय श्रद्धा से आवर्जित प्रतीत होता है। उनके लिये उन्होने जगत्पति, लोकाधिपति प्रभु तथा स्वयम्भू[1] इत्यादि विशेषण दिये हैं, जिससे यह बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे महायान धर्म के अनुगामी हैं। महायान धर्म की विशेषता बताते हुए उन्होंने बुद्धचरित मे लिखा है —

> इदमार्य महायान सम्बुद्धधर्मसाधनम्।
> सर्वसत्वहिताधान सर्वबुद्धै: प्रचारितम्॥ बुद्धचरित १६।८५।

किन्तु हीनयानी प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए भी वे कहते हैं कि अर्हत्त्व एव निर्वाण की प्राप्ति के लिये सयमन करो।

उपर्युक्त विवेचनो के अनन्तर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि उनको पुस्तको मे बौद्ध धर्म की सामान्यत सभी शाखाओ की धारणाएँ उदार दृष्टि के कारण स्वय आ गयी हैं। साम्प्रदायिक वैषम्य से निवृत्ति के लिए ही उन्होने समन्वयका मार्ग अपना कर बौद्ध-धर्म को विकसित किया है। वस्तुतः हीनयान और महायान मे कोई आधारभूत वैभिन्य नही है, दोनो को बुद्ध का उपदेश ही अभिप्रेत है।

अब महाकवि अश्वघोष के समन्वयवाद के इस प्रकृत प्रसग को यही पर कुछ काल के लिये स्थगित कर, हम उनके कतिपय दार्शनिक सिद्धान्तो पर विचार करेंगे, जिन्हें उन्होने पूर्व की पृष्ठभूमि मे रखकर लोगो के सामने उपस्थित किया है। उनके समस्त दार्शनिक सिद्धान्तो का विविध शीर्षकों मे रखकर विवेचन करना एक बृहत् कार्य है, और वैसा करना ही उनको पूर्णतः समझने मे सहायक हो सकता है, पर प्रकृत प्रसग मे एक लघु निबन्ध उपस्थित करते हुए उनके कतिपय सिद्धान्तो का ही विवेचन इष्ट प्रतीत होता है। एतदर्थ यहाँ उनके निम्नलिखित सिद्धान्त ही विवेच्य हैं।

चतुष्टय आर्य-सत्य-विवेचन

आर्य-सत्य बौद्ध-धर्म का आधारपीठ है। भगवान् बुद्ध ने बोधिवृक्ष के नीचे सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर, सर्वप्रथम इसी आर्य सत्य की देशना सारनाथ

---

१. बुद्धचरित–१६।६४, ७५।

मे दी थी। उपदेश काल मे भगवान् बुद्ध ने इसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि यह दुर्दर्श, दुरनुबोध, गम्भीर, शान्त एवं प्रणीत है[1]।

यह आर्य सत्य इतना गम्भीर और दुरनुबोध है कि अनार्यजन इसका साक्षात्कार नहीं कर सकते। जिसके पास आर्य दृष्टि है वही इसका सम्यक् ज्ञाता हो सकता है। आर्य[2] (अर्तु प्रकृतमाचरितुं योग्य) का अभिप्राय प्रकृताचारशील से है। अतएव शुद्ध आचरणवाला पुरुष ही इस सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। धम्मपद मे भी लिखा है कि आर्य-सत्य का अभिदर्शन प्रज्ञावान् पुरुष को ही होता है—'चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति'—धम्मपद—१.१९०। आर्यसत्य की व्याख्या त्रिपिटकों मे भी कई प्रकार से मिलती है। मज्झिमनिकाय मे इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि आर्य लोग ही इसका ज्ञान प्राप्त करते हैं अतएव इसे आर्यसत्य कहा जाता है[3]।

महाकवि अश्वघोष ने इन चार आर्य सत्यों की सम्यक् व्याख्या सौन्दरनन्द के सोलहवें सर्ग मे की है। उन्होंने लिखा है कि जो मनुष्य दुःख, दुःखोद्भव और दुःखनिरोध को सम्यक् रूप से जानता है वह कल्याणमित्रों के साथ रहता हुआ आर्य-मार्ग से चलकर निर्वाण को प्राप्त करता है[4]। जिस प्रकार रोगी सम्यक् रूप से व्याधि, व्याधिनिदान और उसकी औषधि को जानता है, वह अभिज्ञ मित्रों से उपचर्यमाण होकर अचिरकाल मे ही आरोग्य लाभ करता है[5]। अतएव दुःख सत्य को रोग, दोषों को रोग निदान, निरोध सत्य को आरोग्य, तथा मार्ग-सत्य को भैषज्य समझना चाहिए[6]। दूसरे शब्दों मे दुःख को प्रवृत्ति, दोषों को प्रवर्तक, निरोध को निवृत्ति और मार्ग को निवर्तक समझना चाहिए[7]।

इस आर्य-सत्य का अभिदर्शन वस्तुतः उस साधक को ही हो सकता है जिसका चित्त अनाविल एवं अनास्रव हो। और जब इस आर्य सत्य का ज्ञान साधक को हो जाता है तब वह परम प्रणीत निर्वाण की प्राप्ति करता है।

---

१. अधिगतो खो मे अयं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पण्डितवेदनीयो। सच्चसंगहो।

२. कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्, तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः। हलायुध कोश-पृ० १५५।

३. अरिया इमानि पटिविज्झन्ति, तस्मा अरियसच्चानी ति वुच्चन्ती। म० नि० पृ० ३०३।

४. सौन्दरनन्द१६।३९। ५. १६।४०। ६ १६।४१। ७ १६।४२।

उसे पुनर्जन्म का व्याघात नहीं होता[1]। लेकिन जो इस आर्य सत्य को नहीं जानता वह ससारदोला पर चढकर भवाद्भव को प्राप्त करता है[2]।

अश्वघोष ने बौद्ध धम के चतुष्टय आर्य सत्यो का सकेत निम्न पद्य मे किया है—

बाधात्मक दु खमिद प्रसक्त दु खस्य हेतु प्रभवात्मकोऽय ।
दु खक्षयो नि सरणात्मकोऽय त्राणात्मकोऽय प्रशमाय मार्ग ॥

सौ० १६।४।

इस पद्य मे क्रमश दु ख, दु ख समुदय, दु ख निरोधगामिनी प्रतिपत् का विवेचन हुआ है। इन चतुष्टय आर्य-सत्यो का व्याख्यान महाकवि अश्वघोष ने बडे ही सहज और सरल ढग से प्राजल और बोधगम्य भाषा मे किया है। उनके प्रतिपादन का ढग बडा ही प्रभावशाली है तथा शैली कही भी दुरनु बोध और ग्रन्थिल नही हो पायी है।

अब हम सौन्दरनन्द मे वर्णित चतुष्टय आर्य सत्यो का विवेचन निम्न प्रकार स करेंगे —

दु ख

'प्रतिकूलतयावेदनीय दु खम्, दुर् दुष्ट खनतीति दु खम् । अर्थात् प्रतिकूल वेदना का अनुभव करना ही दु ख है प्राणी को जब किसी वस्तु के देखने से सुख की अनुभूति होती है तो वह प्रसन्न होता है किन्तु जब अनिष्टकर वस्तुओं का दर्शन होता है तब वह दु ख का अनुभव करता है। सम्मोहविनोदिनी नाम अट्ठकथा मे दु ख शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'तस्मा कुच्छि-तत्ता च तुच्छता च दु ख ति वुच्चति"। दु ख चिरन्तन सत्य है, इसकी सव्याप्ति सवत्र है। महाकवि अश्वघोष के ही शब्दो मे दु ख के विस्तार का प्रसार देखिये—

आकाशयोनि पवनो यथा हि यथा शमीगर्भशयो हुताश ।
आपो यथा तर्वसुधाशयाश्च दु ख तथा चित्तशरीरयोनि ॥
अपा द्रवत्व कठिनत्वमुर्व्या वायोश्चलत्व ध्रुवमौष्ण्यमग्ने ।
यथा स्वभावो हि तथा स्वभावो दु ख शरीरस्य च चेतसश्च ।

सौ० १ ।११ १२।

लौकिक दृष्टान्तो के सहारे महाकवि अश्वघोष न इसमे बौद्धदर्शन के दु ख वाद का सम्यक् ढग से प्रतिपादन किया है। पवन सतत् आकाश मे रहता है,

---

१. सौन्दरनन्द १६।५। २ सौन्दरनन्द, १६ ६।

अग्नि शमी के गर्भ में रहती है और जल वसुधा के अन्तःप्रदेश में रहता है। इसी प्रकार शरीर और चित्त में दुःख की स्थिति बनी रहती है। जबतक चित्त और शरीर की अवस्थिति रहेगी मानव जीवन दुःखाभिभूत होता रहेगा। दुःख, चित्त और शरीर का अविच्छेद्य धर्म है। यथा पानी का स्वभाव द्रवत्व है, पृथ्वी का कठिनत्व है, वायु का चञ्चलत्व है तथा अग्नि का औष्ण्यभाव है उसी प्रकार चित्त और शरीर का स्वभाव दुःख है।

भगवान् बुद्ध ने दुःख का विवेचन करते हुए बतलाया है कि जन्म लेना भी दुःख है, वृद्ध होना भी दुःख है, मरण भी दुःख है। संक्षेप में पञ्च उपादान स्कन्ध को ही उन्होंने दुःख बताया है[1]।

अश्वघोष ने सभी दुःखों का कारण जन्म माना है। जैसे सभी औषधियों की उत्पत्ति पृथ्वी से होती है उसी प्रकार जरा इत्यादि विपत्तियों का मूल जन्म है[2]। यह जन्म सब दुःखों के लिए ही है, सुख के लिए कदापि नहीं[3]। जरा भी दुःख का कारण ही है। यह स्मरण शक्ति का हर्ता, एवं बलवीर्य का निहन्ता है। जरा के सदृश शरीरियों का और कोई शत्रु नहीं है[4]। रोग के सदृश कोई अनर्थ नहीं है और मृत्यु के समान कोई विकराल भय नहीं है। जिस वस्तु में परा प्रीति होती है, उसकी अप्राप्ति से भी दुःख होता है, अतएव अनिष्ट की अप्राप्ति भी दुःख है[5]। जहाँ नाम-रूप की उत्पत्ति होती है वहीं दुःख है, इसे छोड़कर अन्यत्र दुःख नहीं है[6]।

तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण संसार दुःखमय है। यह पञ्चस्कन्ध जिसके लिए हम नित्यप्रति चिन्तित रहा करते हैं दुःखमय है। यह मृण्मय घट से भी असार है क्योंकि विधिवत् रखा हुआ घट चिरकाल तक रह सकता है लेकिन सँभालकर रखने पर भी यह ठीक नहीं रह पाता। यह शरीर किञ्चित् व्यतिक्रम भी नहीं सहता है जैसे विषधर सर्प रौंदे जाने पर प्रकुपित हो जाता है[7]। संसार की जितनी वस्तुएँ हैं वे सब दुःख ही उत्पन्न करती हैं। विवेकशील पुरुषों के मत में तो सम्पूर्ण जगत् दुःखमय है[8]।

---

१. जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं ...संखित्तेन पञ्चुपादा-नक्खन्धापि दुक्खा। धम्मसंगहो।

२. सौन्दरनन्द, १६।७। ३. सौन्दरनन्द, १६।१९। ४. सौन्दरनन्द, ९।३३।

५. प्रीतिः परा वस्तुनि यत्र यस्य विपर्ययात्तस्य हि तत्र दुःखम्।

सौन्दरनन्द, १३।४९।

६. सौन्दरनन्द, १६।१६। ७. सौन्दरनन्द, ९।११।१४॥

८. दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। योगसूत्र, २।१५।

दुःख समुदय

प्रथम आर्यसत्य के विवचन के बाद द्वितीय आर्यसत्य की व्याख्या अपेक्षित है। प्रथम आर्यसत्य में दुःख का विवेचन किया गया और इसमें उसके कारणों का विश्लेषण अभीष्ट है क्योंकि बिना कारण कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। कार्य और कारण में अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध होता है। अगर कारण न हो तो कार्याभाव हो जायगा[1]। अतएव दुःख का समुदय (दुःखस्य हेतु) तृष्णा है।

दुःख समुदय की व्युत्पत्यात्मक व्याख्या अट्ठकथा में इस प्रकार है— "स" इति च अयं सद्दो "समागमो समेतं" (वि० १२८, दी० २।२२८) ति आदीसु संयोग दीपेति। "उ" इति अयं सद्दो "उप्पन्न उदित" ति आदीसु उप्पत्ति। अय सद्दो पन कारण दीपेति। इद चापि दुतियसच्चं अवसेसपच्चयसमायोगे सति दुक्खसमुप्पत्तिकारणं। इति दुक्खस्स संयोगे उप्पत्तिकारणत्ता दुक्खसमुदय ति वुच्चति। स० वि० ना० अ०।

भगवान् बुद्ध ने दुःख समुदय का विवेचन करते हुए कहा है कि यह प्राणियों को बार बार उत्पन्न करने वाली तृष्णा ही दुःख का कारण है— "इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं। यायं तण्हा पोनब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सेय्यथीदं कामतण्हा, भवतण्हा विभवतण्हा"।

महाकवि अश्वघोष ने द्वितीय आर्यसत्य दुःख समुदय का कारण तृष्णा का सम्यक् विवेचन किया है। उनके अनुसार भी प्रवृत्ति (जन्म) रूपी दुःख का कारण तृष्णा आदि दोष समूह ही है, इसका कारण ईश्वर प्रकृति या काल इत्यादि नहीं है[2]। तृष्णा के वशात् ही प्राणियों का जन्म होता है[3]। मनुष्य विषयों की आसक्ति में ही निमग्न रहता है लेकिन विषयों से इन्द्रिय-ग्राम को तृप्ति कभी नहीं होती। जैसे निरन्तर जल से पूर्यमाण समुद्र सतृप्त नहीं होता[4]। बन्धन और वायु के वर्तमान रहने पर जैसे अग्नि प्रज्वलित होती है उसी प्रकार विषयों की परिकल्पना से क्लेशाग्नि का प्रादुर्भाव होता है[5]।

---

१. कारणाभावात् कार्याभावः। वैशेषिकदर्शन। हेत्वाभावेन कार्यता। बु० च० १६।१९।

२ सौन्दरनन्द, १३।१७। ३ सौन्दरनन्द, १६।१९।

४ सौन्दरनन्द, १३।४०।

५. इन्धने सति वायौ च यथा ज्वलति पावकः।
विषयात्परिकल्पाच्च क्लेशाग्निर्जायते तथा। सौ० १३।५०।

अश्वघोष ने काम तृष्णा का वर्णन सौन्दरनन्द में यथास्थान जमकर किया है। काम को उन्होंने सभी दुःखों का कारण बतलाया है। जबतक तृष्णा रहती है तबतक चित्त अत्यन्त दुःखित रहता है[1]। विषयों की अन्वेषिति में ही दुःख है। काम रूपी सर्प से डँसा जाने पर कोई भी व्यक्ति शान्त नहीं रह पाता[3]। कामभोग से कभी तृप्ति नहीं होती है यथा प्रदीप्त अग्नि को हवि से। जैसे जैसे काम सुख की वृद्धि होती है वैसे वैसे विषयों की वृद्धि होती है[4]। अर्थात् वायुप्रेरित अग्नि की तृप्ति जैसे हव्य द्रव्यों से नहीं होती वैसे ही कामोपभोग से लोक को तृप्ति नहीं होती है[5]। मनुष्यों के लिये दारु तथा आयस की शृङ्खला कोई कठिन बन्धन नहीं है। उसके लिए तो स्त्री सौन्दर्य तथा उसके ललित वचन ही सबसे दृढ बन्धन हैं। अश्वघोष ने सौन्दरनन्द के छठे सर्ग में स्पष्ट लिखा है—

तावद्दृढं बन्धनमस्ति लोके न दारवं तान्तवमायसं वा।

यावद्दृढं बन्धनमेतदेव मुखं चलाक्षं ललितं च वाक्यम्॥ सौ० ८।१४।

संसार के अनेकविध दुःखों और जन्मों का कारण तृष्णा ही है और इसके समान भव में बहा ले जाने वाली कोई दूसरी प्रबल धारा नहीं है[6]। भव तृष्णा का वर्णन करते हुए अश्वघोष ने बतलाया है कि संसार में बने रहने या जन्म लेने की जो इच्छा है वह भी दुःख का कारण ही है 'सर्वापदां क्षेत्रमिदं हि जन्म" (सौ० १६।७)। 'दुःखाय सर्वं न सुखाय जन्म' (सौ० १६।१)। विभव तृष्णा का अभिप्राय उच्छेद अथवा संसार का विनाश है। संसार के विनाश होने में भी प्राणियों को दुःख सहना पड़ता है। यह तृष्णा संसार के समस्त विद्रोहों का कारण है[8]। इसी के कारण मनुष्य एक दूसरे से लड़ता है।

दुःखनिरोध

तृतीय आर्यसत्य दुःख-निरोध है। निरोध का तात्पर्य अत्यन्त निवृत्ति है। दुःख का अत्यन्त उपरम ही सुख है[7]। अतएव यह सत्य इस तथ्य का निर्देश

१. मानसं बलवद्दुःखं तर्षे तिष्ठति तिष्ठति। सौ० ११।३६।

२. कामानां प्रार्थना दुःखा प्राप्तौ तृप्तिर्न विद्यते। सौ० ११।३८।

३ अनन दष्टो मदनाहिनाऽहिना, न कश्चिदात्मन्यनवस्थितः स्थितः।
सौ० १०।५६।

४ सौन्दरनन्द, ९।४३।

५ हव्यैरिवाग्नेः पवनेरितस्य लोकस्य कामैर्न हि तृप्तिरस्ति। सौ० ५।२३।

६ स्रोतो न तृष्णासममस्ति हारि। सौ० ५।२८।

७ अत्यन्त दुःखोपरमं सुखं तच्च न बुध्यते। सौ० १२।२३।

करता है कि दुःखों का आत्यन्तिक निरोध भी होता है। बौद्धदर्शन का अन्त दुःख की सत्ता बताने मे ही नहीं होता अपितु उसका अन्त दुःख विनाश के प्रयत्न स्कन्धो का निर्देश कर निर्वाण की प्राप्ति मे होता है। सम्मोहविनोदिनी नाम अट्ठकथा मे निरोध की व्युत्पत्यात्मक व्याख्या इस प्रकार मिलती है ("नि" सद्दो अभाव 'रोध' चारक दीपेति। दुःखस्स वा अनुप्पाद निरोधपच्च-यता दुक्खनिरोध ति।) भगवान् बुद्ध ने दुःखनिरोध की व्याख्या करते हुए कहा है— 'इद खो पन भिक्खव दुक्खनिरोध अरियसच्च। सो तस्सयेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो'।

अश्वघोष ने इन्ही बौद्ध सिद्धान्तो का विश्लेषण किया है। कवि ने बताया है कि यदि इस दुःखात्मक ससार मे निर्मुक्त होना चाहते हैं तो तृष्णा के कठोर बन्धनों का विध्वसन करें। क्योंकि कारण के नाश मे कार्य का नाश हो जाता है[1]। बौद्ध धर्म म कार्य कारण के अटूट सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद मे इसी कार्य कारण की प्रक्रियाओं का हमे सम्यक् विवचन मिलता है। अतएव इससे यह सिद्ध होता है कि सभी वस्तुओ के मूल मे कारण की विद्यमानता है। एतदर्थ साधक को चाहिए कि वह अपने अन्तर्निहित काम-नाओ को उसी तरह नष्ट कर द जैसे प्रकाश अधकार को नष्ट कर देता है[2]। काम भावनाओ का यदि कुछ भी अनुशय रह जायगा तो वह शीघ्र ही प्रकट हो जाता है, जैसे बीज से अकुर उत्पन्न हो जाते हैं[3]। सासारिक प्रवृत्ति के रहने से जरा इत्यादि अनेक प्रकार की बाधाए मनुष्य को आक्रान्त किया करती हैं। लेकिन प्रवृत्ति के अभाव मे मनुष्य उसी प्रकार विचलित नहीं होता है जैसे अनुत्पन्न वृक्ष बहते प्रबल प्रभजन से क्षुब्ध नहीं होता[4]। अतएव भव-जाल के कटने जजाल का समूल उन्मूलन करने के लिये अपने तप तेज को प्रदीप्त करना चाहिए जैसे अपार तृण राशि को भस्मीभूत करने के लिए अग्नि प्रज्वलित करने की आवश्यकता होती है[5]। तृष्णा के पूर्णत निरोध से उपादान का स्वय

---

१ कन्दुज्जन्मनो नैकविधस्य सौम्य तृष्णादयो हेतव इत्यवश्य।
तांश्छिन्धि दुःखाद्यदि निर्मुमुक्षा कार्यक्षय कारणसक्षयाद्धि ॥
सौ० १६।२५।

म-दुःखक्षयो हेतुपरिक्षयाच्च। सौ० १६।२६।

२. सौन्दरनन्द, १५।८। ३. सौन्दरनन्द, १५।६।

४ जरादयो नैकविधा प्रजाना सत्या प्रवृत्तौ प्रभवन्त्यनर्था ।
प्रवात्सु घोरेष्वपि मारुतेषु न ह्यप्रसूतास्तरवश्चलन्ति ॥ सौ० १६।१०।

५ सौन्दरनन्द, ५।३०।

निरोध हो जाता है और यदि उपादान निरुद्ध हो गया तो भव भी निरुद्ध हो जायगा। जिसके हृदय में छन्द राग नहीं है वह सभी दोषों से मुक्त हो जाता है। दुःखों के उपशमन से ही सम्पूर्ण अनुशयों का अभाव होता है। मूल के उच्छिन्न हो जाने पर जैसे विराट वृक्ष की स्थिति नहीं रहती है उसी प्रकार तृष्णा रूपी मूल (कारण) के नष्ट होने पर जरा मरण इत्यादि के दुःख अभिभूत नहीं करते। स्थितप्रज्ञ पुरुष को रूप रस, गन्ध, स्पर्श तथा अनुकूल एवं प्रतिकूल विषय उसी प्रकार नहीं हिला पाते जैसे एक घन-पर्वत को प्रभंजन नहीं हिला पाता[1]। स्थितप्रज्ञ की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि मनोगत सभी कामनाओं का जो प्रहाण कर देता वही पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है[2]।

दुःख निरोध का ही द्वितीय अभिधान निर्वाण है। निर्वाण को अन्य दर्शनों में मोक्ष या मुक्ति कहा गया है, जो दुःख से नितान्त परे की अवस्था है[3]। निर्वाण क्षेमकर, नैष्ठिक और अक्षय पद है, जिसकी प्राप्ति से जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, प्रिय अप्रिय संयोग इत्यादि नहीं होता[4]। वैशेषिक दर्शन में भी यह कहा गया है कि आगामी जन्म की उत्पत्ति के निरोध से सांसारिक दुःखों का स्रोत पूर्णतः निरुद्ध हो जाता है और यही मोक्ष है[5]। जैसे मोक्षावस्था सुख दुःख दोनों से परे है उसी प्रकार निर्वाण भी। छान्दोग्यउपनिषद् में भी लिखा है कि मोक्षावस्था में सुख दुःख की प्रतीति नहीं होती है[6]। बौद्धों के अनुसार तो निर्वाण दुःखों का पूर्णत उच्छेद ही है[7]। दुःख के निरोध से पुनर्जन्म का भी निरोध हो जाता है। अतएव कोई दृढ़व्रत साधक यदि निर्वाण का साक्षात्कार करना चाहता है तो उसे तृतीय आर्यसत्य का साक्षात्कार करना चाहिए क्योंकि दुःख निरोध से ही संसार की सभी अकुशल प्रवृत्तियों का अभाव हो जाता है।

---

१ सेलोयथा एकघनो वातेन न समीरति। एवं रूपा रसा सद्दा गन्धा फस्सा च केवला। इट्ठा धम्मा अनिट्ठा च न पवेधेन्ति तादिनो। ठितं चित्तं विप्पमुत्तं वयञ्चस्सानुपस्सति ॥ अंगुत्तर निकाय, ३।५२।

२–३ श्रीमद्भगवद्गीता–२।५५।

४ सौन्दरनन्द–१६।२७।

५ आगामि शरीराद्यनुत्पादरूप दुःखप्रध्वंस एव मोक्ष। भारतीय दर्शन परिचय पृ० १४१।

६ छान्दोग्योपनिषद्, ८।१२।

७ आत्मोच्छेदो मोक्ष। भारतीय दर्शन परिचय पृ० १४३।

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् (आर्य अष्टांगिक मार्ग)

प्रतिपद् (प्रतिपद्यन्ते उपक्रम्यतेऽनयेति प्रतिपद्) का अर्थ मार्ग है। अतएव दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् का अर्थ "दुःखनिरोध की ओर अभिमुख करने वाला मार्ग" है। दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् की व्याख्या "सम्मोहविनोदिनी नाम अट्ठकथा' में इस प्रकार मिलती है—"चतुत्थ सच्च पन यस्मा एत दुःखनिरोध गच्छति आरम्मणवसेन तदभिमुखोभूतत्ता पटिपदा च होति दुक्खनिरोध पत्तिया, तस्मा दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा ति वुच्चति"। भगवान् बुद्ध ने इसी चतुर्थ आर्य सत्य को अष्टांगिक मार्ग कहा है—'इद खो पन, भिक्खवे दुक्खनिरोध-*गामिनी पटिपदा अरियसच्च—अयमेव अरियो अट्ठगिको मग्गो सेय्यथीद—* सम्मादिट्ठि, सम्मासकप्पो सम्मावाचा सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो, सम्मा-वायामो, सम्मासति, सम्मासमाधि (महावग्ग, पृ० १३)।

आर्य अष्टांगिक मार्ग बुद्ध की समस्त साधना एव दर्शन का आधार स्तम्भ है। यह समस्त बुद्ध शासन का केन्द्रबिन्दु है, जिसके चतुर्दिक् सम्पूर्ण सिद्धान्तो का स्वाभाविक विकास हुआ है। अपने सर्वप्रथम प्रवचन मे भगवान् बुद्ध ने इसका उपदेश कर मध्यमा प्रतिपदा के साथ इसकी एकात्मता बतलायी है। मध्यमा प्रतिपदा युक्त इस अष्टांगिक मार्ग को उन्होंने अरण धर्म बताया है[1]। वस्तुत सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए यही एकमात्र श्रेयस्कर मार्ग है जिस पर प्रतिपन्न होकर दुःखो का अन्त किया जा सकता है[2]। यह 'कल्याण वर्त्म" है, जो अभिज्ञा, सम्यक सम्बोधि और निर्वाण के लिये है। सारिपुत्र को उपदेश करते हुए भगवान् न आर्य अष्टांगिक मार्ग से युक्त पुरुष को ही स्रोतापन्न कहा है। अश्वघोष न भी लिखा है कि (शील समाधि, एव प्रज्ञा रूपी) त्रिस्कन्ध वाले अविनाशी एव मगलमय आर्य अष्टांगिक मार्ग पर आरूढ होकर मनुष्य *सभी क्लेशो म मुक्त हो शिवात्मक पद को प्राप्ति करता है*[3]।

"मध्यमा प्रतिपदा" का अभिप्राय क्या है ? यह प्रश्न यहाँ विवेच्य प्रतीत होता है। भगवान् न आर्य अष्टांगिक मार्गो म सम्यक् का विशेषण दिया है। सम्यक से तथागत का अभिप्राय दोनो अन्तो का मध्यमावस्था स है। अर्थात् न तो आत्मनिर्यातनमयी तपस्या ही श्रेयस्कर है और न भोगमयी प्रवृत्तियो म

१ अरणविभगसुत्त (मज्झिमनिकाय) ३।४।९।

२ एसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एत हि तुम्हे पटिपज्जथ दुक्खस्सन्त करिस्सथ ॥ धम्मपद, २०।२।३।

३ सौन्दरनन्द, १६।३७।

तल्लीन होना ही, क्योंकि (कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो तथा अत्तकिलमथानुयोगो) ये दोनों ज्ञारहीन, अनार्य एव अनर्थसहित हैं। अतएव इन दोनों अतियो से बचकर मध्यम मार्ग को अपनाना ही शोभन है। इस ओर भी स्पष्ट करने के लिये हम एक उपमा के सहारे कह सकते हैं कि यदि कोई वीणा का सुमधुर संगीत सुनना चाहे तो उस वीणा के तारों को सतुलित रूप में रखना होगा। क्योंकि अधिक उमेठ देने से तो उसके तार ही टूट जायेंगे और शिथिल कर देने से झंकृति ही नहीं निकलेगी। उसी प्रकार यदि कोई पुरुष निर्वाण के अधिगम का अभिलाषी है तो उन दोनों अतियों से बचकर मध्यमा प्रतिपदा पर प्रतिपन्न होना होगा और तभी उसे मंगलमय निर्वाण की प्राप्ति होगी।

महाकवि अश्वघोष ने भी सौन्दरनन्द के चतुर्दश सर्ग में "मध्यमा प्रतिपदा" के महत्व का निरूपण करते हुए लिखा है कि जैसे अत्यधिक भोजन करना अनर्थकारी है वैसे ही अल्प भोजन भी शक्ति का विनाशक है[1]। दूसरा दृष्टान्त निरूपित करते हुए भी उन्होंने बतलाया है कि जैसे अधिक भार से तुला नमित हो जाती है और लघु भार होने से उन्नमित होती है तथा यथोचित भार से समान भाव में रहती है उसी प्रकार यह शरीर भी (अधिक, अल्प एवं उचित) *आहार से भारी, लघु और समान रहता है। इन दोनों दृष्टान्तों से मध्यमा* प्रतिपदा के सेवन की ध्वनि प्रस्फुटित होती है[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित इस 'मध्यमा प्रतिपदा' का समन्वित जीवन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अब हम इस सर्वश्रेष्ठ आर्य अष्टांगिक मार्ग[3] का विवेचन कर देखें कि इसमें कौन कौन से मार्ग हैं जिनसे चलकर मनुष्य निर्वाण का साक्षात्कार करता है। महाकवि अश्वघोष ने इसका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

> अस्याभ्युपायोऽधिगमाय मार्गः प्रज्ञात्रिकल्पः प्रशमद्विकल्पः ।
> स भावनीयो विधिवद्बुधेन शीले शुचौ त्रिप्रमुखे स्थितेन ।
> वाक्कर्म सम्यक् सहकायकर्म यथावदाजीवनयश्च शुद्धः ।
> इदं त्रयं वृत्तविधौ प्रवृत्तं शीलाश्रयं कर्मपरिग्रहाय ॥

---

१ यथा ह्यत्यशनाहारः कृतोऽनर्थाय कल्पते ।
 उपयुक्तस्तथात्यल्पो न सामर्थ्याय कल्पते ॥ सौ० १४।३ ।

२. यथा भारेण नमते लघुनोन्नमते तुला ।
 समातिष्ठति युक्तेन भोज्येनेयं तथा तनुः ॥ सौ० १४।५।

३. मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा ।
 विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानञ्च चक्खुमा ॥ धम्मपद २०।१ ।

सत्येषु दुःखादिषु दृष्टिरार्या सम्यग्वितर्कश्च पराक्रमश्च ।
इदं त्रयं ज्ञानविधौ प्रवृत्तं प्रज्ञाश्रयं क्लेशपरिक्षयाय ॥
न्यायेन सत्याधिगमाय युक्ता सम्यक् स्मृतिः सम्यगथो समाधिः ।
इदं द्वयं योगविधौ प्रवृत्तं शमाश्रयं चित्तपरिग्रहाय ॥

सौ० १६।३०, ३१, ३२, ३३ ।

उपर्युक्त पद्यों में कवि ने त्रिप्रमुख शील में—सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म तथा शुद्ध आजीविका का, त्रिकल्पक प्रज्ञा में–सम्यक् दृष्टि, सम्यक् विचार तथा सम्यक् प्रयत्न का एवं द्विकल्पक समाधि में–सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि का अन्तर्भाव किया है। तात्पर्य यह कि यह अष्टांगिक मार्ग प्रज्ञा, शील, समाधि इन त्रिस्कन्धों में अन्तर्भावित है।

शील—

शील का सम्बन्ध सदाचार और कर्मों के निग्रह से है। संसार के अखिल श्रेयस्कर कर्मों का सम्पादन शील का आश्रय लेकर ही होता है जैसे पृथ्वी का आश्रय लेकर खड़ा होना इत्यादि[1]। बौद्धदर्शन में निर्वाण की प्राप्ति के लिये शील परम ध्येय वस्तु है। शील की प्रतिष्ठा से मनुष्य अपने आध्यात्मिक चैतन्य से सवलित हो जाता है। बौद्धदर्शन के अन्य व्याख्याता आचार्य बुद्धघोष ने शील को निर्वाण नगर के प्रवेश के लिये श्रेयस्कर द्वार बताया है[2]। शील के रहने से क्लेशांकुरों का प्रादुर्भाव उसी प्रकार नहीं होता है जैसे अकाल में बीजांकुर समुद्भूत नहीं होते[3]।

प्रज्ञा—

प्रज्ञा का सम्बन्ध किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान से है, दूसरे शब्दों में कुशल-चित्त से युक्त विपश्यना ज्ञान को ही प्रज्ञा कहते हैं। प्रज्ञा क्लेशांकुरों को निःशेष कर देती है जिस प्रकार प्रावृट् काल में नदी अपने प्रान्तवर्ती वृक्षों का उन्मूलन कर देती है। प्रज्ञा से दग्ध होकर दोष उसी प्रकार नहीं पनपते जैसे वज्राग्नि से दग्ध होकर वृक्ष।

समाधि—

समाधि का सम्बन्ध योग से है। इससे चित्त का निग्रह होता है। समाधि क्लेशों का विष्कम्भन करती है जैसे पर्वत नदियों के महावेग का। समाधिस्थ होने पर मन्त्र बद्ध सर्पों की भाँति दोष आक्रमण करने में असमर्थ हो

---

१ सौन्दरनन्द, १३।२१। २ विशुद्धिमार्ग–शीलनिर्देश।
३ सौन्दरनन्द १६।३६।

जाते हैं[1]। बुद्धचरित में भी अश्वघोष ने कहा है कि समाधि प्रसन्न-मनवालों को सिद्ध होती है। मन जब समाधियुक्त होता है तब ध्यान योग की प्रवृत्ति होती है। ध्यान योग के प्रवृत्त होने से उन धर्मों का साक्षात्कार होता है जिससे शान्त, अजर और दुर्लभ अमर पद की प्राप्ति होती है[2]।

शील, प्रज्ञा और समाधि के इस संक्षिप्त वर्णन के पश्चात् अब हम आर्य अष्टांगिक मार्ग का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

सम्यक् दृष्टि—

सम्यक् दृष्टि का अभिप्राय कुशल एवं अकुशल का यथार्थ ज्ञान है। संसार असार है तथा इसमें उत्पन्न होने वाली सभी चीजों का विनाश अवश्यम्भावी है। भगवान् ने नन्द को उपदेश करते हुए कहा है कि ऋतु चक्र के विवर्तन के फल-स्वरूप संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है। अतएव तुम्हें इसे सम्यक् रूप में देखना चाहिये। बुद्ध के अनुसार आर्य-सत्य का सम्यक् अभिज्ञान ही सम्यक् दृष्टि के अन्तर्गत आता है।

सम्यक् संकल्प—

जब भगवान् ने नन्द को तत्त्व मार्ग का उपदेश किया तब वह मोक्ष की प्राप्ति के लिये बद्धपरिकर हो गया। सम्पूर्ण तत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा से तथा मोक्ष की अनुकूल विधियों को करने की इच्छा से वह ज्ञान एवं शान्ति के द्वारा चित्त की कर्मभूमि में विचरण करने लगा[3]। महादुःखपाश से विनिर्मुक्त होने, तथा मुक्ति मार्ग में प्रवेश करने की इच्छा से आर्यसत्य का सम्यक् भावन कर उसने ज्ञानलाभ कर शान्ति को प्राप्त किया[4]।

सम्यक् वाचा—

सम्यक् वाचा का अभिप्राय मधुर और प्रिय वाणी है। सत्य भाषण से मन और शरीर का व्यापार परिशुद्ध रहता है। अतएव जिन वचनों से दूसरे प्राणी को कष्ट का अनुभव हो उसका परित्याग आवश्यक है। भगवान् ने नन्द को उपदेश करते हुए कहा है कि ऐसा कार्य करो जिससे तुम्हारे कायिक और वाचिक व्यापार शुद्ध होकर आवरण रहित हो जाय[5]।

सम्यक् कर्म—

सम्यक् कर्म का सिद्धान्त बौद्ध-धर्म की आधारशिला है। विश्व की योजना में कर्म की ही प्रधानता है। मनुष्य कर्म के अनुरूप ही फल का अधिगम

---

१. सौन्दरनन्द, १६।३५। २ बुद्धचरित, १२।१०३,१०४।
३. सौन्दरनन्द, १७।५। ४ सौन्दरनन्द, १७।१३।
५. सौन्दरनन्द, १३।११।

करता है। भगवान् बुद्ध के अनुसार कर्म ही प्राणियो का उद्धारक है। कर्म की नित्य अबाधता का संकेत अश्वघोष ने तृतीय सर्ग मे किया है[1]। सम्यक् कर्म के अनुसार अपने मन को कामोपभोग के विषयो मे प्रवृत्त करना श्रेयस्कर नही है, क्योंकि वे अत्यन्त चचल और काल्पनिक हैं। हिंसा या द्रोह से यदि चित्त क्षुब्ध हो तो उनके प्रतिपक्ष मैत्री एव करुणा द्वारा चित्त का निर्मंजन अपरिहार्य है।

सम्यक् आजीविका—

जीवन के निर्वाह के लिये अशोभन उपायो का साहाय्य नही लेना ही सम्यक् आजीविका है। प्राणियो को अपने शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिये किसी प्रकार की जीविका अवश्य ग्रहण करनी पडती है, लेकिन इसको शुद्ध और निर्मल होना अपेक्षित है। भगवान् ने कहा कि शरीर और वचन के कर्म से आजीविका पृथक् है। अतएव आजीविका को शुद्ध करना कठिन है[2]। अतएव कपट आदि पाच दोषो को छोड कर तथा ज्योतिष आदि व्यापारो को त्याग कर जीवन के उदात्तीकरण एव परिशुद्धि के लिये भिक्षावृत्ति के निश्चित नियमो का पालन करते हुए आजीविका को शुद्ध करना चाहिए।

सम्यक् व्यायाम—

सम्यक् व्यायाम का अर्थ शोभन उद्योग है। सत्कर्मों के करने के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। इन्द्रियो पर सयम रखते हुए अनवद्य भावनाओ के विकास के लिए ही सदा कर्तव्य परायण होना आवश्यक है। सफल उद्योग से ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। सभी समृद्धियो का उदय वहीं होता है जहाँ उत्तम उद्योग होता है[3]। अनुद्योगी पुरुष को वस्तुत अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नही होती[4]। अतएव मनुष्य को सर्वदा उद्योगशील होना चाहिए। क्योंकि उद्योग मे ही सभी समृद्धियाँ समाहित होती हैं[5]। मन के अकुशल वितर्कों के प्रहाण के लिये प्रश्वास और निश्वास की स्मृति को ठीक रखना चाहिए। स्मृति मे अधिष्ठित होकर चचल इन्द्रियो को विषयो से हटाना चाहिए[6]। इन्द्रियो की रक्षा करना परम आवश्यक है क्योंकि इस पर नियन्त्रण न रखने से दुख और पुनर्जन्म होता है[7]।

---

१. सौन्दरनन्द, ३।३६। २. सौन्दरनन्द, १३।१८।
३. सौन्दरनन्द, १६।९४। ४ १६।९५। ५ १६।९८।
६. १३।३०। ७. १३।५४।

सम्यक् स्मृति—

सम्यक् स्मृति का तात्पर्य सन्मार्ग पर ले चलने वाली बातों का अनुस्मरण करना है। आध्यात्म का चिन्तन करनेवाले पुरुष की स्मृति सदा जागरूक रहती है। बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष ने सौन्दरनन्द के चतुर्दश सर्ग में स्मृति का विशद वर्णन किया है। भगवान् नन्द को उपदेश देते हुए कहते हैं कि बैठते, चलते, खड़ा होते, देखते और ऐसे अन्य कार्यों को करते हुए अपनी स्मृति को जागरूक रखो[1]। उन्होंने इसे द्वाराध्यक्ष के समान बताया है। स्मृति के जागरूक रहने से दोषों का आक्रमण नहीं होता[2]। स्मृति अपने क्षेत्र में रहनेवाली शील आदि सद्गुणों की रक्षा उसी प्रकार करती है जैसे गोप बिखरी गौओं का अनुगमन करता है[3]। जिसकी स्मृति नष्ट हो जाती है उसका अमृत भी नष्ट हो जाता तथा उसे आर्य सत्य का भी ज्ञान नहीं होता[4]।

सम्यक् समाधि—

समाधि का अर्थ है, सम्यक् समाधान। अर्थात् किसी एक आलम्बन पर चित्त चैतसिकों की सम्यक् प्रतिष्ठा। अर्थात् जहाँ किसी विक्षेप के चित्त आलम्बन पर सम्यक् रूप से स्थित हो। समाधि से क्लेशों का विष्कम्भन होता है और चित्त चैतसिक एकाग्र हो स्थित होते हैं।

ध्यान, योग और समाधि

बौद्ध दार्शनिक महाकवि अश्वघोष ने निर्वाण प्राप्ति के लिये योगियों के योगाभ्यास से प्राप्त समाधि के पूर्व की परिचर्याओं का उल्लेख आनुक्रमिक ढंग से किया है। सर्वप्रथम हमें भोजन की मात्रा का वर्णन मिलता है तत्पश्चात् शील, इन्द्रियसंयम, श्रद्धा स्मृति एवं वीर्य की परिचर्चा मिलती है। योग तो योगियों की अखिल चित्त वृत्तियों का निरोध है[5]। मनुष्य की इन्द्रियाँ रागात्मक होती हैं तथा अकुशल मूलों की ओर सदा भ्रमण करती रहती हैं। कामकामी पुरुषों की इन्द्रियाँ कभी प्रतिष्ठित नहीं होतीं, वे वासना के झकोर स जल में पड़ी नौका की तरह दोलायमान रहती हैं। अतएव सर्वप्रथम अपने को शील में प्रतिष्ठित कर इन्द्रिय संयम की भावना करनी चाहिये, क्योंकि शील से ही सभी कार्यों की प्रतिष्ठा है[6]। शील, जंगल में मार्ग निर्देश के समान है, यह

---

१. १४।३६। २. १४।३६। ३. १४।४१। ४. १४।४२, ४३।

५. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगदर्शन, १।२।

६. शीलमास्थाय वर्त्तन्ते सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः। सौ० १३।२१।

बन्धु मित्र और रक्षक भी है[1]। योगियो के लिये इन्द्रियो का सयम एव ब्रह्मचर्य का पालन परमावश्यक है। इन्द्रियो को विषयो से विरक्त करने से ही योगियो की चित्तवृत्तियो का निरोध होता है। विषयो के उपभोग से इन्द्रियो को उसी प्रकार सतृप्ति नही होती जैसे जल से निरन्तर पूर्ण होने पर भी समुद्र तृप्त नही होता[2]। इन्द्रियाँ तो अपने विषयो की ओर रहेगी ही लेकिन उसमे लिङ्ग आकृति और अनुव्यजन का ग्रहण श्रेयस्कर नही है[3]। चक्षु से विषयो का अवलोकन कर धातु मे ही अपना ध्यान लगाना चाहिए नर है या नारी ऐसी कल्पना नही करनी चाहिए क्योकि जबतक मानसिक परिकल्प नही होगा तबतक इन्द्रियाँ उसमे आसक्त नही हो सकती[4]। जैसे इन्धन और वायु के ससर्ग से अग्नि प्रदीप्त होती है उसी प्रकार विषय और कल्पना से क्लेशगणो का उदय होता है। अतएव साधक योगी को चाहिये कि वह इन्द्रिय सयम करें। क्योकि जिसकी इन्द्रियाँ वशवर्ती हैं उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है और वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

शील और इन्द्रिय सयम के उपरान्त कवि ने श्रद्धा का वर्णन किया है। श्रद्धा मन की वह शान्तिमयी प्रभापूर्ण भावना है जिसके बिना इस चचल जीवन मे चिरस्थायिता सम्भव नही। श्रद्धा प्रतीति की मूर्तिस्वरूपिणी सत्ता है जिसके समागम से पतझर के जर्जर जीवन मे वसन्त की पूर्ण प्रभा जीवन्त हो जाती है। जब जीवन के मरुस्थल मे ज्वाला सदृप्त हो जाती है तब श्रद्धा ही शीतलता के अनुसिचन का सचार करती है। श्रद्धा उस प्राणवन्त छवि प्राप्त-सरोवर की कमलिनी है जो प्रभात की कनक रश्मियो का सरस परस पाकर अपने सौरभ का सचार कर जीवन जगत् को आप्यायित करती है। वेदो और ब्राह्मणो मे भी श्रद्धा का स्तवन ऋषियो ने आनन्दमग्न एव उदात्त अन्त करण से किया है[5]। श्रद्धा पापप्रमोचनी और अश्रद्धा पाप है श्रद्धावान् सभी पापो का

---

१ शील हि शरण सौम्य कान्तार इव दैशिक ।
  मित्र बन्धुश्च रक्षा च धन च बलमेव च ॥ सौ० १३।२८।
२ विषयैरिन्द्रियग्रामो न तृप्तिमधिगच्छति ।
  अजस्र पूर्यमाणोऽपि समुद्र सलिलैरिव ॥ सौ० १३।४०॥
३ सौन्दरनन्द, १३ ४१, ४२।
४ सौन्दरनन्द, १ ४९।
५ श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हवि ।
  श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसावेदयामसि ॥ ऋ० वेद, १०।१५१।१।

उसी प्रकार सजहन करती है जिस प्रकार सर्प जीर्ण शीर्ण त्वक् को[1]। श्रद्धा चेतना का सप्रसाद है, वह कल्याणमयी जननी की भाँति योगियों की रक्षा करती है। श्रद्धाशील विवेकार्थी वीर्य प्राप्त करता है। वीर्य के प्राप्त होने पर स्मृति उपस्थित होती है स्मृति के उपस्थान होने पर चित्त अनाकुल हो जाता है। समाहित चित्त होने पर प्रज्ञाविवेक का उपावर्तन होता है जिससे यथार्थ वस्तु का ज्ञान होता है। श्रद्धादि के शीलन से विषयों का विरक्ति से योगी असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है[2]। महाकवि अश्वघोष ने कहा है कि जिस प्रकार हाथ दान ग्रहण करता है उसी प्रकार श्रद्धा सद्धर्म को ग्रहण करती है। इसीलिए श्रद्धा को हाथ कहा है[3]। अतएव योगी साधक को चाहिए कि वे श्रद्धाङ्कुर को प्रतिपल बढ़ावे, क्योंकि श्रद्धा के बढ़ने से धर्म वैसे ही बढ़ता है जैसे मूल की वृद्धि से वृक्ष[4]।

श्रद्धा के बाद वीर्य की प्रतिष्ठा का अश्वघोष ने विवेचन किया है। सिद्धि चाहने वालों को ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा कर वीर्य का लाभ करना चाहिए। क्योंकि वीर्य और उद्योग से विमुख रहने वाले व्यक्तियों को अलब्ध वस्तुओं की प्राप्ति नहीं होती है। उनकी प्राप्त वस्तुएँ भी विनष्ट हो जाती हैं, व मर्यादा हीन हो जाते हैं। वीर्यवान पुरुषों से अनादर मिलता है, व निस्तेज हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि निर्वीर्यों का सब प्रकार से पतन होता है[5]। कार्य की सफलता का कारण है वीर्य की प्रतिष्ठा। वीर्य के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। वीर्य से सभी समृद्धियों की सम्पन्नता होती है—लेकिन जहाँ निर्वीर्यता है वहाँ पाप है[6]। चित्त के परिश्रान्त होने पर या विषयान्त में परिभ्रमण करने पर जिस बल के द्वारा उसे पुनः प्रवृत्त किया जाता है उसे वीर्य कहते हैं और इस वीर्य का लाभ ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से होता है[7]।

बौद्ध दर्शन में स्मृति का व्यापक और महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्मृति शब्द का अर्थ है स्मरण। प्रश्न है स्मरण किसका ? उत्तर है—काय और मन से सम्पन्न प्रत्येक कर्म का। सप्रज्ञान पूर्वक प्रत्येक वस्तु का अनुष्ठान ही कर्म है।

---

१. अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम् ॥
महाभारत शान्तिपर्व, २७०।१५।

२. पातञ्जल योगदर्शन, पृ० ४३। ३ सौन्दरनन्द, १२।३६।
४. सौन्दरनन्द, १२।४१। ५. सौन्दरनन्द, १६।९५।
६ सौन्दरनन्द, १६।९४।
७. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। पातञ्जल योगदर्शन, साधनपाद, ३८।

मानसिक अवधानता अथवा अधिगत विषयों का असम्प्रमोष ही स्मृति है। 'स्मृ' धातु का मौलिक अर्थ है गम्भीर चिन्तन। पातजल योगदर्शन में लिखा है कि अनुभूत विषयों का असम्प्रमोष अर्थात् तदनुरूप आकार युक्त वृत्ति ही स्मृति है[1]। भगवान् बुद्ध ने भी कहा है कि लोक में जितने स्रोत हैं सबों का निवारण स्मृति है[2]। जिस अध्यात्मचिन्तक की स्मृति सदा जागरूक रहती है वह दुस्तर ओघ को पार कर जाता है[3]। बौद्ध-दार्शनिक अश्वघोष ने आदि-प्रस्थान में स्मृति का गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्मृति को द्वाराध्यक्ष के समान माना है। जिस प्रकार द्वाराध्यक्ष से रक्षित नगर पर शत्रुओं का आक्रमण नहीं होता उसी प्रकार स्मृतिमानों पर दोषों का आक्रमण नहीं होता। बौद्ध-दर्शन में चार स्मृति-उपस्थान हैं—जिनमें कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना उद्दिष्ट हैं। इन स्मृति प्रस्थानों से मिथ्या दृष्टियों का अतिक्रमण हो जाता है। स्मृति अपने क्षेत्र में रहने वाली शीलादि सभी सद्गुणों का अनुगमन करती है, जैसे यादव अपनी बिकीर्ण गौओं का अनुसरण करता है[4]। जिसकी स्मृति विप्रसृत रहती है उसका नष्ट हो जाता है और जिसकी स्मृति कायगता होती है, अमृत उसके हाथों में विद्यमान रहता है[5]। जिसकी स्मृति विद्यमान नहीं है उसे आर्यसत्य की उपलब्धि नहीं होती है और जिसको आयमार्ग प्राप्त नहीं, उसका सत्पथ नष्ट हो जाता है[6]। अतएव चलता हुआ 'चल रहा हूँ' और खड़ा हुआ 'खड़ा हूँ'—इसी प्रकार अन्य कार्य करते हुए स्मृति का आधान परमापेक्षित है[7]।

स्मृति के बाद प्रज्ञा का स्थान है। प्रज्ञा के होने से विषयों का अभिघात नहीं होता है। संसार क्षणभंगुर है इसकी नित्य सत्ता नहीं है इस प्रकार के ज्ञान को हम प्रज्ञा कहते हैं। अश्वघोष ने लिखा है कि प्रज्ञा दोषों को निःशेष कर देती है जैसे नदी प्रावृट् काल में अपने प्रान्तवर्ती द्रुमों का समूल उन्मूलन कर देती है। प्रज्ञा से भस्मीभूत होकर दोष पुनः उत्पन्न नहीं होते जैसे वज्राग्नि से अनुसृत वृक्ष पुनः पनपते नहीं।

योग मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति का स्वरूप है। महाभारत में योग

---

१. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। पातजल योगदर्शन, १ ११।

२. अज्झत्तचिन्ती सतिमा ओघं तरति दुत्तरं। सुत्तनिपात (हेमवन्त सुत्त)।

३. यानि सोतानि लोकस्मिं सति तेसं निवारणं। सुत्तनिपात (पारायणवग्गो)।

४ सौन्दरनन्द, १४।४१। ५. सौन्दरनन्द, १४ ४२।

६. सौन्दरनन्द, १४।४३। ७. सौन्दरनन्द, १४।४५।

८. सौन्दरनन्द, १६ ३६।

और उसमे होने वाली ज्ञानवृत्ति को ध्यान कहते हैं[1]। और ध्येयाकार निर्भास ध्यान ही जब ध्येय स्वभाव के आवेश रूप से स्वरूप शून्य के समान होता है तब समाधि होती है। नन्द जब कामाग्निदाह से मुक्त हुआ, तब उसने ध्यानसुख में परम आह्लाद को प्राप्त किया। परन्तु वहाँ पर उसको वितर्क ने कष्ट पहुँचाया। शनै शनै उसने वितर्क एव विचार से रहित, मानसिक एकाग्रता के परिणामस्वरूप समाधि से उत्पन्न, प्रीति तथा सुख से युक्त द्वितीय ध्यान को प्राप्त किया[2]। प्रीति में भी उसने दोषों का अवलोकन किया—क्योंकि जिसको विषयों से प्रीति होती है उसको उसकी अप्राप्ति होने पर दुःख की अनुभूति होती है। अतएव प्रीति से विरत होकर, आर्यजनसेवित सुख को जानते हुए ज्ञान, उपेक्षा एव स्मृति से युक्त होकर उसने तृतीय ध्यान को प्राप्त किया। इस ध्यानभूमि को उसने शुभकृत्स्न अथवा देवो की भूमि समझा। इस ध्यानभूमि में भी उसने जब दोष देखा तब सुखदुःख और मनोविकार को छोडकर सुखदुःख से रहित उपेक्षा तथा स्मृति से युक्त परम पवित्र चतुर्थ ध्यान का साक्षात्कार किया[3]। इस ध्यान में सुख-दुःख की भावना नहीं रहती है तथा उपेक्षा और स्मृति के द्वारा इस ध्यान विधि से परिशुद्धि होती है। इसके बाद उसने दश सयोजनों का विनाश किया और अर्हत्व की प्राप्ति की। सुधन्धु से कामाग्नि का निर्वापित कर, ग्रीष्म काल में शीतल सरोवर में अवतीर्ण हुए के सदृश उसने परम आह्लाद प्राप्त किया[5]। उस अवस्था को प्राप्त कर उसे प्रिय, अप्रिय तथा विरोध अनुरोध का भान नहीं हुआ। इन दोनों के अभाव में शीत उष्ण से मुक्त हुए के समान उसे आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति हुई[6]।

महाकवि अश्वघोष ने शील, समाधि एव प्रज्ञा से लेकर निर्वाण की प्राप्ति तक आने में जितने प्रकार की यौगिक एव ध्यानिक प्रक्रियाएँ हैं, उनका आनुक्रमिक ढग से वर्णन करने में अत्यधिक सफलता प्राप्त की है। उन्होंने उपदेशात्मक शैली में योग की विधियों के क्रम में तथा ध्यानावस्था के काल

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। विभूतिपाद ॥ १ ॥

२ सौन्दरनन्द, १७ ४७।

३. प्रीतेर्विरागात्सुखमार्यजुष्टं कायेन विन्दन्नथ सम्प्रजानन्।
उपेक्षक स स्मृतिमान्व्यहार्षीद् ध्यान तृतीय प्रतिलभ्य धीरः ॥
सौ० १७५०।

४ सौन्दरनन्द, १७।५४, ५५। ५. सौन्दरनन्द, १७ ६६।

६ सौन्दरनन्द, १७।६७।

मे आने वाली बाधाओ को शमित करने के उपायो का निदर्शन भी स्वाभाविक ढग से किया है। विषयो के प्रतिपादन मे उन्होने अनेक प्रकार की सामाजिक उपमाओ का सहारा लिया है जिससे विषय अत्यन्त स्पष्ट हो गये हैं। सक्षेपत: कह सकते हैं कि अश्वघोष बौद्ध-धर्म के शेमुषीसम्पन्न व्याख्याता एव सूक्ष्म विचारक थे जिन्होने दर्शन के नीरस तत्त्वो को काव्य का कलेवर प्रदान कर जनजन के लिये हृद्य बना दिया है।

निर्वाण

बौद्ध-दर्शन का परम लक्ष्य नश्रेयस पद की परम अवाप्ति है। इस पद के आसादन के फलस्वरूप अनिर्वचनीय-अवस्था का साक्षात्कार होता है, जहाँ न तो प्रतिकूलवेदना है और नअनुकूल वेदना। पारिभाषिक रूप मे बौद्ध-दार्शनिक इसे निर्वाण की सज्ञा देते हैं। निर्वाण का अधिगम प्रपञ्चातीत और सुखदु:खात्मक ससार से परे है। यहाँ सासारिक दु:खो का प्रहाण हो जाता है और साधक निर्वृत होकर परमक्षेम को प्राप्त करता है। निर्वाण ही सबसे श्रेष्ठ और परम ध्येय है[१]। निर्वाण अप्रादुर्भाव और चेतोविमुक्ति है। निर्वाण का एकमात्र रस विमुक्ति रस है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण के अप्रतिम महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है—'जिस प्रकार महासमुद्र का एकमात्र रस लवणरस होता है तथैव मेरे इस धर्म-विनय का एकमात्र रस विमुक्ति रस है'। सम्पूर्ण नदियो का विलयन जैसे सागर मे होता है उसी प्रकार बुद्ध के समस्त उपदेश निर्वाण मे जाकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

निर्वाण" की व्याख्या के पूर्व इस शब्द की निरुक्ति जान लेना भी अपेक्षित है। निर्वाण शब्द की व्याख्या बौद्धदार्शनिको ने अपने अपने ढग से की है लेकिन बहुल रूप म इसका अर्थ—विगत-तृष्ण तथा तृष्णा का आत्यन्तिक क्षय के रूप मे मनीषियो को ग्राह्य है[४]। प्रदीपवत् बुझ जाने के अर्थ मे भी निर्वाण की व्याख्या मिलती है— निब्बन्ति धीरा यथाय पदीपो"[५]।

---

१ निब्बान परम वदन्ति बुद्धा। धम्मपद, बु० व० ६।

२ सेय्यथापि भिक्खव, महासमुद्दो एकरसो लोणरसो, एवमेव खो भिक्खवे अय धम्मविनयो एकरसो विमुत्तिरसो। चुल्लवग्ग, पृ० ३५७।

३ सेय्यथापि नाम गगोदक यमुनोदक ससन्दति समेति एवमेव सुपञ्ञत्ता ते भगवता सावकान निब्बानगामिनी पटिपदा। दीघनिकाय, २,१६७।

४. तण्हाय विप्पहानेन निब्बान इति वुच्चति। सु० नि० पृ० १२०।

५ पदीपस्सेव निब्बान विमोक्खो अहु चेतसो। थे० गा० पृ० ११६।

आचार्य बुद्धघोष ने निर्वाण को सर्वमल विरहित, और अत्यन्त परिशुद्ध कहा है[1]। महाकवि अश्वघोष के अनुसार भी यह निर्वाण शान्त, मंगलमय, जरारहित, रागरहित और परमक्षेमकर है।[2]

निर्वाण प्राप्त पुरुष प्रिय, अप्रिय, तथा अनुरोध-विरोध के अभाव मे हिमातप से विप्रमुक्त हो जाता है[3]। अमृत प्राप्ति की तरह निर्वाण की अवाप्ति भी परमक्षेमकर है। जो मनुष्य दुःख, उसकी उत्पत्ति और उसके निरोध को सम्यक् रूप से जानता है, वह कल्याण मित्रों के साथ रहता हुआ शान्ति को प्राप्त हो जाता है[4]। इसमे यह प्रकट होता है कि दुःखनिरोध ही निर्वाण है[5]। और इसी मार्ग पर चलने वाला साधक निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है[6]। अश्वघोष ने निर्वाण को नैष्ठिक और अक्षय बतलाया है। यहाँ जरा मरण, प्रिय-अप्रिय, सयोग सदा आधि व्याधि का भय नहीं रहता है[7]। नन्दी (तृष्णा) और राग के नष्ट हो जाने से चित्त की सम्यक् मुक्ति हो जाती है—और मुक्ति के बाद कुछ रह नही जाता है[8]। अश्वघोष ने निर्वाण की परिभाषा इस प्रकार की है—

> दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावर्नि गच्छति नान्तरिक्षं।
> दिश न काचिद्विदिश न काचित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्ति॥
> एव कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावर्नि गच्छति नान्तरिक्ष।
> दिश न काचिद्विदिश न काचित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्ति॥

सौन्दरनन्द, १६।२८, २९।

अर्थात् जिस प्रकार निर्वृत दीपक न पृथ्वी पर रहता है न अन्तरिक्ष मे गमन करता है, न किसी दिशा या विदिशा मे अपितु स्नेह के क्षय के कारण शान्ति को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ धन्यचेता पुरुष पृथ्वी या अन्तरिक्ष मे नहीं गमन करता—न दिशा या विदिशा में अपितु

---

१. सब्बमलविरहित अच्चन्त परिसुद्ध निब्बान। वि० म०, १, ५, २।
२. (क) शान्त शिवं निर्जरस विराग नि श्रेयसं पश्यति यश्चधर्मं।
सौ० १७।३२।
(ख) क्षेम पद नैष्ठिकमच्युत तत्। सौ० १६।२७।
३. सौन्दरनन्द, १७।६७। ४. सौन्दरनन्द, १६।३९।
५ विसुद्धि मग्ग, १६।६५।३५५।
६. मिलिन्द पञ्हो, पृ० २६५। और मि० प० पृ० ३१६।
७. सौन्दरनन्द, १६।२७। ८. सौन्दरनन्द, १६।४५।

क्लेशकर रागदोषो के प्रहाण से शान्ति को प्राप्त कर जाता है। महाकवि अश्वघोष के अनुसार निर्वाण की यह परिभाषा स्थविरवाद की परिभाषा से प्राय अक्षरश साम्य रखती है। सुत-निपात मे निर्वाण की परिभाषा इस प्रकार है—

अत्थि यथा वातवेगेन खित्तो अत्थं पलेति न उपेति संखं।
एव मुनि नाम काया विमुत्तो, अत्थ पलेति न उपेति सख॥

अर्थात् वातवेग से क्षिप्त अचि-शिखा जैसे बुझजाने के बाद यह नहीं अभिव्यक्त किया जा सकता कि वह किस दिशा या विदिशा मे गई उसी प्रकार निर्वृत पुरुष के बारे मे भी नही कहा जा सकता कि वह कहाँ गया।

सुत्त निपात मे ही दूसरी जगह निर्वाण को प्रदीपवत् बुझ जाने के समान बतलाया है[1] मिलिन्द पञ्हो म कहा गया है कि उपमा, व्याख्या तथा तर्कादि के आश्रय से निर्वाण के स्वरूप तथा काल स्थान आदि को बताया नहीं जा सकता है। यह अव्याख्येय और अनिर्वचनीय है[2]। निर्वाण को त्रिपिटको मे बहुधा परमसुख बतलाया है[3]।

निर्वाण की व्याख्या प्रपञ्चो से ग्रन्थिल हो गई है। जिसने इसकी जैसी अनुभूति की, जैसा भावन किया, वैसा ही अपना विचार व्यक्त किया है। कोई इसे भावात्मक और कोई अभावात्मक बतलाता है—वस्तुत निर्वाण है क्या? अभी तक इसकी मूल चेतना या स्वरूप का दिग्दर्शन अनुमेय और अनुभवैक-गम्य ही रहा है। फिर भी अन्य दार्शनिक मनीषियो के विचारो से सक्षेप मे परिचिति प्राप्त करने के लिए उनके विचारों का विवेचन अपरिहार्य है।

बौद्ध दार्शनिकों ने भावात्मक तथा अभावात्मक निर्वाण की विशेष रूप से चर्चा की है। कोई इसे एक भाव पदार्थ बतलाता है। भाव पदार्थ के स्थान पर इसे परमसुखपद, अमृतपद, अच्युतपद, शिवपद, अनुत्तरयोगक्षेम आदि सज्ञाओ मे अभिव्यक्त किया गया है। निर्वाण अलौकिक सुख है—निर्वाण की प्राप्ति हो जाने पर सासारिक विषय वासनाओ की लहर नही छूती है। भगवान् बुद्ध ने इसे परमसुख कहा है—

आरोग्य परमा लाभा निब्बानं परम सुखं[4]।

---

१. निब्बन्ति धीरा यथाय पदीपो। सु० नि० पृ० २४।
२. न सक्का निब्बानस्स रूपं वा, संठानं वा वय वा पमाणं। वा ओपम्मेन वा हेतुना वा नयेन वा उपदस्सयितुं। मि० प्र०, पृ० ३०९।
३ (क) निब्बान परमं सुख। म० नि०, २।२०७।
(ख) निब्बान सुखा परं नत्थि। थेरी गाथा, ४७६, २४, ३४।
४. म० नि०, २।७।

अमृतपद से निर्वाण की व्याख्या करते हुए इस जरा-मरण पर विजय बताया गया है। सारिपुत्र तथा अन्य अर्हतो ने निर्वाण की अनुभूति का अमृत-पद से परिव्यक्त किया है[1]। निर्वाण वस्तुत सासारिक व्यामोह से उपरत मनुष्य की परमशान्ति की अवस्था है, जहाँ लोकोत्तरानन्द का अनुभव होता है। वह शान्त, शिव और निर्जरस है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण के स्वरूप की विवृत्ति करते हुए बतलाया है कि—निर्वाण एक एम सुरक्षित द्वीप के समान है जहाँ भयकरता के जलौघ से परितृप्त प्राणी निर्भयता की अनुभूति का भावन करते हैं। अन्य स्थानो मे भी इसे आत्मविजय, सत्य एव शान्त पद मे अभिहित किया गया है। ये सभी शब्दावलिया निर्वाण के भावात्मक रूप का विश्लेषण करती हैं।

अभावात्मक निर्वाण की भी विवृत्ति अन्य दार्शनिको ने की है। अभावात्मक रूप म निर्वाण को रागादि क्लेशों का क्षय, दु ख निरोध तथा भवनिरोध के रूप मे किया गया है।

यदि हम निर्वाण को अभावात्मक मान लें तब सम्पूर्ण प्रयत्नो का फल निरर्थक हो जायगा और ब्रह्मचर्यात्मक जीवन का सयमन व्यर्थ और सारहीन प्रतीत होगा। भगवान् बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा की भावना का उपदेश कर उसे निर्वाण की प्राप्ति के मार्ग का निर्देशन किया है। जब इसकी कोई उपादयता ही नही रहगी तब इसके आसादन के लिये इतना प्रयत्न ही कौन करेगा? निर्वाण को अभावात्मक मान लेने से निर्वाण की प्राप्ति के लिये कौन साधक प्रयत्नशील होगा। अत निर्वाण को अभावात्मक मानना श्रेयस्कर नहीं है। निर्वाण को हम अविद्यमान नही कह सकते। मिलिन्दप्रश्न मे कहा गया है—कि हम यह नही कह सकते कि समुद्र मे कितना जल है, उसकी गहराई कितनी है और जीव जन्तु की सख्या अपरिमेय है—इस हेतु हम समुद्र को अविद्यमान समझें—यह यथोचित और औचित्यपूर्ण नहीं है। उसके आकार-प्रकार की अनिर्वचनीयता से समुद्र की अविद्यमानता नहीं ध्वनित होती अपितु इन वर्णनाओ मे उसकी विद्यमानता का प्रत्यक्षीकरण स्वय हो जाता है[2]।

---

१. (क) अमावुसो, अमत अधिगत। म० व० पृ० ४०।

(ख) तत्थे व विरज धम्मं फुसिय अमत पद। थेरी गाथा, १४९।

२ यथा महाराज अत्थिधम्मे येव महासमुद्दे न, सक्का उदक परिगणेनु सत्ता वा ये तत्थ वासमुपगता, एवमेव खो महाराज अत्थिधम्मस्सेव निब्बा नस्स न सक्का रुप वा सठान वा वय पमाण वा ओपम्मेन वा कारणेन व हेतुना वा नयन वा उपदसयितु। मि० प्र० पृ० ३१०।

आचार्य बुद्धघोष ने निर्वाण को भावात्मक सिद्ध करते हुए कहा कि निर्वाण को शशविषाण के जैसा अनुपलब्ध होने के कारण यदिअभावात्मक बताया जाय तो यह औचित्यात्मक नही है, क्योकि शशविषाण तो सम्पूर्ण प्रयत्नो के होते हुए भी अनुपलब्ध ही रहेगा किन्तु शील समाधि और प्रज्ञा का भावन आर्यमार्ग द्वारा करके साधक निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है और यह अनुभूतसिद्ध है[1]। इसकी उपलब्धि अनुभवसिद्ध है। अत निर्वाण की अभावात्मक कल्पना करना श्रेयस्कर नही है।

अनिरुद्धाचार्य ने भी निर्वाण को भावात्मक सिद्ध करते हुए लिखा है—

पदमच्चुतमच्चन्त असङ्खतमनुत्तर।
निब्बानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो॥ अभिधम्मत्थसंगहो।
पृ० १२५।

उपर्युक्त विवेचन के दर्शन मे यह परिलक्षित होता है कि निर्वाण भावात्मक है। अभावात्मक मान लेने से निर्वाण की ओर अभिमुख होने के लिये कोई उत्प्रेरित न होगा। निर्वाण बाह्यलोक की वस्तु नहीं है, जिसे चक्षु से देखा जाय, यह तो आध्यात्मिक लोकोत्तर एव अनुभवैकगम्य है।

बौद्ध धर्म में नारी का स्थान

भारतीय सस्कृति, साहित्य एव दर्शन के क्षेत्र मे नारी का स्थान महत्वपूर्ण और विशिष्ट रहा है। धर्मकथाओ मे अर्द्धनारीश्वर की कल्पना नारी की श्रेष्ठता और महत्ता की प्रतिपादिका है। सृष्टि की समष्टि मे नारी का व्यष्टि रूप भी अन्यतम है। नारी के बिना नृ-सृष्टि अपूर्ण है। नर और नारी दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। पुरुष यदि शौर्य, शक्ति एव कठोरता का प्रतीक है, तो नारी स्निग्धता, कोमलता एव सुन्दरता की साकार प्रतिमा। नर के जीवन मे सजीवन की वर्षा करने वाली नारियो की उपेक्षा नही की जा सकती है। आत्मोत्सर्ग कर वात्सल्य की अमिय धार बहाने वाली, मातृत्व के गौरव से समादृता नारी की अवहेलना औचित्यपूर्ण नही है करुणा, ममता, उत्सर्ग एव वात्सल्य की गुणात्मक शक्तियो से युक्त होने के कारण ही, वह माता, पत्नी, पुत्री, रमा, जगदम्बा आदि शक्ति के रूप मे समादृत रही है।

भारतीय सभ्यता की प्राणवान् निधि ऋग्वेद मे नारी का स्थान उत्कर्षमय रहा है मन्त्रद्रष्टा मनीषियो ने प्राकृतिक रूपो मे दैवी शक्ति का आरोप कर उसे सौन्दर्य भावना मे समन्वित कर दिया है। उमा, इन्द्राणी, सरस्वती आदि

---

१ नत्थेव निब्बान ससविसाण विय अनुपलब्भनीयतो ति चे, न, उपायेन उपलब्भनीयतो। वि० म० १६, ६७, ३५५।

देवियो की अन्यतम प्रतिष्ठा थी तथा वह जीवन मे सौख्य और कल्याण भावना की आवाहिका थी। इस काल मे नारी वैदिक-कर्मों एव यज्ञों मे पति की सहयोगिनी थी[१]। समान रूप से उसे उपासना एव तपस्या करने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि नारी को उस समय समाज मे उच्चतम स्थान प्राप्त था, फिर भी महाभारत काल मे नारी के दो रूप मिलते हैं, जिस में एक ओर नारी को सम्मान और आदर की प्रतिमूर्ति कहा गया है और दूसरी ओर पाप और व्यभिचार की प्रतिमूर्ति एव सब दोषो का कारण भी[२]।

बौद्ध दर्शन मे यद्यपि नारी को अपनी मुक्ति (निर्वाण) प्राप्त करने की अनुमति मिली, फिर भी वह हेय ही समझी जाती रही। दर्शन के जिज्ञासु मनीषियो ने नारी को आदर और श्रद्धापुलकित नेत्रो से नही निहारा, सबों ने उसे समवेत स्वर से सभी दोषो की जड बताया। विरक्ति-प्रधान सन्तों की दृष्टि मे नारी विलास को उपकरण मात्र मानी गयी क्योकि वह अपने सम्मोहक रूप के द्वारा जितेन्द्रिय पुरुषो को अपनी ओर आकृष्ट कर उसे विराग-पथ से च्युत कर देती है। बौद्ध दर्शन मे भी नारी घृणा की पात्री रही है। नारी निन्दा मे बौद्ध दर्शन के बहुत विद्वानो का स्वर अत्यन्त तीव्र रहा है, साथ ही नारियों की कटु आलोचना भी उन्होने की है।

महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्द महाकाव्य म नारी के सत् एव असत् दोनो पक्षों का चित्र प्रस्तुत किया है। महाकवि का व्यक्तित्व कवि एव दार्शनिक के द्विविध रूपो के समन्वय का है, अतएव उन्होने इस काल मे नारी के द्विविध रूप चित्रो के आकलन मे अपनी प्रौढ प्रतिभा का चमत्कार दिखलाया है। सौन्दरनन्द के चतुर्थ तथा षष्ठ सर्ग म नारी का भव्य तथा उदात्त चित्रण किया है तथा सप्तम सग मे उसके कल्मष भरे रूप का स्पष्ट रूप स अनावरण किया है। सौन्दरनन्द के सप्तम सर्ग मे वर्णित नारी केवल कामुकता और *वासना की प्रतीक है। उसमे पावनता नही है, वह विलास को कामिनी है* जिसमे काम वासनाओ की रागात्मक रेखाएँ हैं। उसम पवित्रता और उत्सर्ग की भावना ही सदा भास्वर होन वाली दीप्ति नहीं है। लेकिन यह वर्णित चित्र यद्यपि बौद्ध दर्शन के अनुकूल है फिर भी एक पक्षीय और सकुचित दृष्टिकोण का एकांगी चित्र है।

---

१ ए० एस० अल्तेकर पोजीशन आव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृ० ८८।

२. महाभारत अनुशासन पर्व ४६ वां अध्याय।

अश्वघोष की दार्शनिक मेधा ने नारियों के अनवदात रूप का जो जुगुप्सापूर्ण चित्रण किया है, वह दर्शनीय है। नन्द अपनी पत्नी के सौन्दर्यपाश में आबद्ध हो रहा था। उसकी आत्म चेतना में सुन्दरी के स्वरूप का प्रतिबिम्ब तरंगित हो रहा था। वह अपनी भार्या के निषेवण के लिये अत्यन्तोत्सुक चित्त से घर जाने की आकांक्षा कर रहा था। उसी क्षण उसके एक कल्याण-मित्र ने आकर, नारी के कालुष्यपूर्ण रूप का दिग्दर्शन कराया। विष से सश्रित लता के स्पर्श करने से, सर्प-युक्त कन्दराओं को परिमृष्ट करने से तथा विवृत असि के धारण करने से जैसे आपत्ति होतीहै वैसे ही स्त्रियों का सम्पर्क भी दुःखपूर्ण होता है[१]। स्त्रियाँ मधुर वचनों से पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं और उन पर निर्दय-हृदय से प्रहार करती हैं। उनके वचन में मधुर रस का आस्रव रहता है, लेकिन हृदय में हलाहल नामक महाविष रहता है[२]। प्रज्वलित अग्नि को पकड़ सकते हैं, विशरीर पवन तथा कुपित भुजग का ग्रहण सम्भव है, किन्तु स्त्रियों के मन को पकड़ना कदापि सम्भव नहीं है[३]। अतएव स्त्रियों के साथ राग रंग मचाना हितकर नहीं है। पुरुष कितना भी स्त्रियों पर विश्वास करे, किन्तु वह हृदय से मित्रता स्थापित नहीं कर सकती। जिस प्रकार अपहृत गाय एक स्थान से जाकर दूसरे स्थान से भी हरिताभ दूर्वा को खाती है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी पूर्व सौहृद भाव को अनवेक्षित कर, अन्यत्र जाकर दूसरे पुरुष के साथ रमणकेलि करती हैं। स्त्रियों के लिये कुछ अगम्य नहीं है[४]। मादकता से विभोर स्त्रियाँ मद उत्पन्न करती हैं और मादकता के तिरोधान होने पर वे भयप्रदा हो जाती हैं। इस प्रकार दोष वहन करने वाली कलुषित नारियों का सेवन कथमपि श्रेयस्कर नहीं है[५]। सभी अनर्थों की जड़ प्रमदाएँ ही हैं। स्वजन, स्वजन से तथा मित्र मित्र से जो भिन्न हो जाता है, उसमें परदोषविचक्षणो

---

१ सविषा इव संश्रिता लता. परिमृष्टा इव सोरगा गुहा
विवृता इव चासयो धृता व्यसनान्ता हि भवन्ति योषितः। सौ० ८।३१।

२ वचनेन हरन्ति वल्गुना निशितेन प्रहरन्ति चेतसा।
मधुतिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महद्विषं सौ० ८।३५।

३. सौन्दरनन्द, ८।३६।

४ (क) प्रमदानामगतिर्न विद्यते। सौ० ८।४४।
(ख) मनोरथानामगतिर्न विद्यते। महाकवि कालिदास।

५. प्रमदा समदा मदप्रदा प्रमदा वीतमदा भयप्रदाः।
इति दोषभयावहाश्च ताः कथमर्हन्ति निषेवणं नु ताः॥ सौ० ८।३२।

की दृष्टि में अनार्य तथा दुष्ट स्त्रियाँ ही कारण होती हैं[1]। अतएव स्त्रियों का अवलम्बन कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ मधुर मादक वचन, लालन पालन तथा मित्रता की स्मृति कभी नहीं करती। परीक्षित स्त्रियाँ भी चंचल होती हैं उसमें स्थैर्य कभी होता ही नहीं है[2]। स्त्रियाँ ग्राहपूर्ण सरिता के समान हैं, जो अविशेष रूप से प्रहार करती हैं। वे रूप, बल, लक्ष्मी तथा कुल किसी का भी विचार नहीं करती हैं[3]। स्त्रियाँ गुणवानों के साथ भर्तृवत्, गुणहीनों के साथ पुत्रवत्, धनवालों के साथ तृष्णापूर्वक और धनहीनों के साथ अवज्ञापूर्वक व्यवहार करती हैं[4]। स्त्रियों का मन निरन्तर अकृतज्ञ अनार्य और अस्थिर रहता है, अतएव उन चचलात्माओं के साथ प्रज्ञाचक्षु पुरुष मन नहीं लगाते हैं[5]। अपवित्र स्त्रियों का वर्णन करते हुए महाकवि अश्वघोष ने लिखा है—

> स्रवतीमशुचिं स्पृशेच्च कः सघृणो जर्जरभाण्डवत्स्त्रियं।
> यदि केवलया त्वचावृता न भवेन्मक्षिकपत्रमात्रया ॥ सौ० ८।५२।

अर्थात् कौन सघृण पुरुष होगा जो जर्जर (जीर्ण शीर्ण) भाण्ड के समान झरती हुई अपवित्र स्त्री का स्पर्श करेगा। यदि वह केवल मक्षिका के कोमल पक्ष के समान पतली त्वचा से घिरी हुई न हो।

स्त्रियाँ बहुविध अनर्थों की जड़ होती हैं। उनका संसर्ग श्रेय-पद की सम्प्राप्ति के लिये उत्तम नहीं है। अश्वघोष की निम्न पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

> यथोल्का हस्तस्था दहति पवनप्रेरितशिखा
> यथा पादाक्रान्तो दशति भुजगः क्रोधरभसः।
> यथा हन्ति व्याघ्रः शिशुरपि गृहीतो गृहगतः
> तथा स्त्रीसंसर्गो बहुविधमनर्थाय भवति ॥ सौ० ८।६१।

अर्थात् जैसे हाथ में रखी हुई उल्का पवनप्रेरित होकर (हाथ को) जलाती है पादाक्रान्त क्रोधसवित सर्प जैसे काटता है, गृहगत व्याघ्र शिशु होने पर भी जैसे मारता है, उसी प्रकार नारियों का संसर्ग भी बहुविध अनर्थों का कारण है।

---

१ स्वजनः स्वजनेन भिद्यते सुहृदश्चापि सुहृज्जनेन यत्।
परदोषविचक्षणाः शठास्तदनार्याः प्रचरन्ति योषितः ॥ सौ० ८।३३।

२. न वचो मधुरं न लालनं स्मरति स्त्री न च सौहृदं क्वचित्।
कलिता वनितैव चचला तदिहारिष्विव नावलम्ब्यते ॥ सौ० ८।३८।

३. सौन्दरनन्द, ८।३७। ४. सौन्दरनन्द, ८।४०।

५ सौन्दरनन्द, ८।४०।

महाकवि शूद्रक ने भी मृच्छकटिक म नारियो के कुत्सित स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे मेरी समझ मे मूढ हैं जो स्त्री और श्री मे विश्वास करते हैं। स्त्री तथा श्री सर्पिणी के समान परिसर्पण करती है[1]। स्त्रियाँ हृदय से दूसरे को आकांक्षा करती हैं और चितवन की मादक कोर मे दूसरे का आह्वान करती हैं। मादक यौवन के हाव भाव का प्रदर्शन दूसरे पर करती हैं और शरीर समागम की कामना किसी अन्य से[2]। स्त्रियाँ स्वभाव से ही चतुर और पण्डिता होती हैं। पुरुष तो शास्त्रोपदेश से प्रज्ञावान और पण्डित होते हैं[3]।

उपर्युक्त विवेचनो से यह पता चलता है कि नारियो का स्वभाव चचल और अपवित्र होता है। यद्यपि व सौन्दर्य और कोमलता की प्रतिमूर्ति हैं फिर भी दार्शनिक उसे महत्वहीन और कुत्सितरूप मे देखता है। कामवासना से वे पुरुषो को अपनी ओर आकृष्ट कर उसे अपने पद से च्युत कर देती हैं। स्त्रियो ने वेदव्यास पराशर तथा-ऋष्यश्रृग जैसे अनेको धीमान् तथा इन्द्रिय सयमित पुरुषो के हृदय को मथकर उन्हे कामोपभोग के लिए प्रेरित किया है। अतएव बौद्ध-दार्शनिक अश्वघोष ने जो नारी के घृणित स्वरूप का वर्णन किया वह बौद्धदर्शन के अनुकूल और औचित्यपूर्ण है।

१. अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो भुजगकन्या परिसर्पणानि॥
मृच्छकटिक ४।१२।

२. अन्य मनुष्य हृदयेन कृत्वा ह्यन्य ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति।
अन्यत्र मुचन्ति मदप्रसेकमन्य शरीरेण च कामयन्ते॥ मृच्छकटिक ४ १६।

३. स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिता।
पुरुषाणान्तु पाण्डित्य शास्त्रैरेवोपदिश्यते॥ मृच्छकटिक ४।१९।

पंचम अध्याय

चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, वस्तु-वर्णन

प्रकृति (पात्र स्वभाव) चित्रण

महाकाव्यों, नाटकों एवं उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पात्र के चित्रण के द्वारा ही कवि अपनी अनुभूतियों का ऋजुकोमल प्रकाशन करता है। महाकाव्य या नाटक की सभी परिस्थितियाँ एवं घटनाएँ पात्रों से सम्बद्ध होती हैं। पात्रों के चरित्र में ही मानव-जीवन की अनुभूतियाँ एवं लौकिक जीवन की आदर्श दशाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। वस्तुतः बहुविध सद्वृत्तियों एवं लोकादर्शों का सवहन करने वाला एकमात्र काव्यों का पात्र ही है। चरित्र-चित्रण को ही महाकाव्यों का प्राण एवं स्थायी तत्त्व के रूप में शास्त्रियों ने स्वीकारा है और यही एक प्रबल तत्त्व है जिससे उसका गौरव मर्यादित होता है।

महाकवि अश्वघोष ने पात्रों के चरित्र चित्रण में अनुपम कुशलता दिखलाई है। उन्होंने पात्रों के चित्रण में सहृदय हृदय भावना से काम लिया है। पात्र की प्रकृति एवं स्वभाव के वर्णन में उन्होंने पात्रगत विशेषताओं की ओर पूर्ण ध्यान रखा है। जीवन के अनुरूप पात्रों की वर्णना से उन्होंने काव्य की रंगभूमि को संवारा है। उनके पात्रों के चरित्र चित्रण में एकरूपता तो अवश्य है, लेकिन चरित्र में एकरूपता नहीं—इसलिये कि पात्र की अवस्थाओं में अस्थिरता होती है। चरित्र चित्रण में उन्होंने सर्वदा सम्भाव्य को ही लक्ष्य बनाया है (नन्द को प्रेय से श्रेय की ओर उन्मुख किया है)।

महाकाव्य में उच्चतर कोटि के पात्रों की वर्णना उपनिबद्ध रहती है। उसका नायक भद्र और यशस्वी होता है। नायक चाहे देवता हो या कुलीन एवं सद्वंशप्रभूत हो[1] उसे चरित्रवान, सद्गुण-सम्पन्न, तेजस्वी तथा पराक्रमी एवं विभूति भूषित होना चाहिए[2]।

सौन्दरनन्द इतिहास की पृष्ठभूमि पर दार्शनिक शैली में लिखा गया एक

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
   सद्वंशः क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणान्वितः॥ साहित्यदर्पण।

२. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
   रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा।
   बुध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
   शूरोदृढश्चतेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः। दशरूपक, २।१-२।

महाकाव्य है जिसमे न तो पात्रो की जमघट है और न घटनाओ और दृश्यो का घटाटोप ही। इतिहास मूलक इतिवृत्त का सहारा लेकर कवि ने अपनी दार्शनिक प्रवृत्तिया का अकन किया है। ऐसी दशा मे वह घटनाओ की ओर ध्यान न देकर पात्रो की मुख्य भावनाओं की ओर दृष्टि क्षेप करता है और उसके हृदय मे सन्निविष्ट भावनाओ को विवृत कर उसके मनोमय जगत् को प्रत्यक्ष कर देता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द, सघर्ष और उससे उत्पन्न कोलाहलपूर्ण मानसिक अवस्थाओ के चित्रण मे कवि ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से काम लिया है चरित्र चित्रण के माध्यम से कवि ने पात्रों के मनस्तत्त्व को स्पष्ट कर दिया है जिससे व्यक्तिगत भावनाओ और द्वन्द्वो के विश्लेषण के साथ समष्टिगत विश्लेषण भी सम्भव हो सका है।

पात्रो की अवतारणा और चरित्र चित्रण करते समय अश्वघोष के सामने जीवन की उदात्त भावना का ही आदर्श रहा है। अश्वघोष के पात्रो की अवस्था बहिर्मुखी की अपेक्षा अन्तर्मुखी अधिक प्रतीत होती है यही कारण है कि वे स्थूल घटनाओ की ओर कम अग्रसर होते हैं। इनके पात्रो मे अन्त सघर्ष की ही भावना अधिक विकसित हुई है, वाह्य सघर्ष उन्हे कम उद्वेलित करता है। अन्त सघर्ष के द्वारा वे अपने कल्याण–पथ का निर्धारण कर समष्टि जगत् के लिये भी आदर्श मार्ग का निर्देश करते हैं। उनके पात्र अतीत का मर्मस्पर्शी चिन्तन कर अनागत की भी आलोचना करते हैं, यही कारण है कि नन्द कलुषित मार्ग को छोडकर अन्त म आर्य-पथ का आश्रय लेता है। अश्वघोष के पात्र भावुकतापूर्ण तथा जीवत हैं। उनमे चिन्तन मनन एव परिदशन की भावनाओ की एकत्र स्थिति है। इनके पात्रो का आदर्श निर्वाण की प्राप्ति कर दूसरो को भी निर्वाण दिलाना है शील, श्रद्धा एव वीय की प्रतिष्ठा करने वाले पात्रो मे जीवन की आदर्शोमुखी प्रवृत्तियो का अधिक प्राबल्य अभिलक्षित होता है।

नन्द

नन्द इस महाकाव्य का सर्वगुण–सम्पन्न एव उदात्त नायक है। महाकाव्योचित नायकों के सभी गुण अनुपातत उसमें मिलते हैं। वह परम प्रख्यात शाक्यवशीय राजा शुद्धोदन के कुल मे प्रसूत तथा भगवान् बुद्ध का अनुज है। वह अपने कुल म नित्य आनन्द का सवद्धन करने वाला था[१]। उसके

---

१ (क) नन्दो नाम सुतो जज्ञे नित्यानन्दकर कुले। सौ० २।५७

(ख) कुलस्य नन्दी जननाश्च नन्द सौ० ४।६।

है उसके लिये भिक्षुवेश उचित नहीं। जिसमे औद्धत्य है, तथा धृति और शान्ति नही है वह चित्रार्पित दीपक की भाँति है'। वह भिक्षु और गृहस्थ की विवचना करते हुए कहता है कि जो गृह से तो नि सृत हो गया है, किन्तु जिसका कामराग नही गया है, जो काषाय वस्त्र धारण करता है लेकिन जिसके मन का काषाय नही गया है, जो भिक्षापात्र धारण करता है किन्तु उसका पात्रभूत नही है—वह वेश धारण करतेहुए भी न तो गृही है और न भिक्षु ही।

यो नि सृतश्च न च नि सृतकामराग
काषायमुद्वहति यो न च निष्कषाय ।
पात्र बिभर्ति च गुणैर्न च पात्रभूतो
लिङ्ग वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षु ॥ सौन्दरनन्द, ७।४९।

अधीरलोचन नन्द को जब कामराग के कारण शान्ति नही मिल रही थी तो एक कल्याण मित्र ने आकर नारी के कल्मष रूप का विश्लेषण कर उसके चित्त को शान्ति प्रदान करना चाहा किन्तु उसके मन मे स्थैर्य नही आ सका। अन्त मे भगवान् बुद्ध ने उसे हिमालय के अन्त प्रदेश मे ले जाकर वहाँ की सौन्दर्यप्राण वस्तुओ का अवलोकन कराया। पुन एकाक्षी *शाखामृगी (वानरी)* को दिखाकर उन्होने पूछा—हे नन्द तुम्हारी समझ से सौन्दर्य एव रूप गुण मे कौन उत्तम है, यह शाखामृगी या वह व्यक्ति जिसमे तुम्हारा मन आसक्त है? सुगत के इस प्रश्न पर नन्द ने मुस्काते हुए प्रतिवचन दिया—"हे देव कहाँ वह रूपवती आपकी कुलवधू और कहा वह नगक्लेशकरी शाखामृगी"। तत्पश्चात् किसी दूसरे कारण का अवलोकन करते हुए वे नन्द को लेकर स्वर्ग पहुँचे। वहाँ वह अप्सराओ क परिदर्शनोपरान्त उसकी अवाप्ति का प्रबल आकाक्षी हो गया। अप्सराओ की ओर नन्द की आवर्जित चित्तवृत्ति को देख कर भगवान् बुद्ध ने उसके हृदय में और भी राग उत्पन्न कर दिया और उन्होने जब देखा कि उसके हृदय मे अप्सराओ के प्रति प्रबल राग उत्पन्न हो गया है और सुन्दरी की ओर से उसका मन विमुख हो गया है, तब उन्होने उससे कहा—हे नन्द तुम इन अप्सराओं को देखो और उसे भी देखो जिसमे तुम्हारा मन लगा है और विचार कर अपनी सम्मति प्रकट करो। बहुत मनन चिन्तन के बाद उसने कहा कि मेरा चित्त अब दोनो ओर से विरक्त हो गया है, अब मुझे आप वाग्वारि से परिषिंचित करें। अन्त में उसका ज्ञान-दृष्टि मिलती है और वह सयत होकर योग, ध्यान एव समाधि का अवलम्बन कर अर्हत्तत्व की प्राप्ति करता है। जब उसे शान्ति की प्राप्ति हो जाती है, तब वह भग-

१ सौन्दरनन्द ७।४८।

वान् के चरणो मे जाकर कहता है कि उस करुणात्मन् को नमस्कार है जिसने मेरे बहुविध दुखों को दूर कर अमित सुख दिये[1]। वह आज परम विरक्त होकर स्थितप्रज्ञ हो गया है जिसको बाह्य व्यथाएँ किंचित् भी कष्ट नही देती हैं[2]। अब वह लोक धर्म से लिप्त नहीं है, वह जीवनमुक्त होकर सद्धर्म का आचरण करता है। नन्द भगवान् बुद्ध के निकट जाकर विनीत भाव से प्रणाम करता है और तब बुद्ध उसे उपदेश देते हैं कि तुमने अपना कार्य समाप्त कर लिया। हे सौम्य, अब तुम अन्य प्राणियो को भी मुक्त करते हुए अनुकम्पा से सवलित होकर विचरो। क्योंकि इस ससार मे वही प्राणी श्रेष्ठ है जो नैष्ठिक-धर्म की अवाप्ति के बाद आत्मगत परिश्रम का विचार न करके दूसरे को शान्ति का उपदेश करना चाहता है। अतएव तुम जीवों के मध्य प्रदीप की तरह प्रकाशमान होकर ज्ञान की ज्योति फैलाओ।[3] अन्त मे वह प्राणियो के बीच जाकर दूसरों को मुक्ति दिलाने के लिये मोक्ष की कथाए कहता हुआ, धर्म का प्रचार करने लगा।

महाकवि अश्वघोष ने नन्द के उच्चावच्च चरित्र का चित्रण किया है। उच्चावच्च चरित्र मे पात्र परिवर्तनशील होते हैं। पात्र के गति-विस्तार मे समय समय पर मोड उपस्थित होता है। नन्द को पहले हम एक सामान्य कामकामी पुरुष के रूप मे पाते हैं लेकिन अवस्थाओ के प्रवाह से उसमे हम एक नूतन परिवर्तन देखते हैं। धर्मभीरु ऐहिक विलासिता मे रमने वाला नन्द उच्चावच्च प्रेरणाओ क घात प्रतिघात से एक त्यागी और अहत के के रूप मे सामने आता है। व्यक्तित्व के स्वरूप मे प्रकर्ष लाने वाली त्याग की भावना देखकर कोई भी प्राणी विस्मय विमुग्ध रह सकता है। है। प्रेय से श्रेय की ओर लाकर कवि ने उसके चरित्र को उदात्त और पवित्र बना दिया है। सकल्प-निर्बल नन्द आज दृढ सकल्पी तथा कर्त्तव्यपरायण दीखता है। आज वह अपने कार्यो की परवाह न कर दूसरो की मुक्ति के लिये औत्सुक्योत्प्रेरित है। भव्य भावना से मण्डित इस चरित्र की वर्णना का श्रेय महाकवि अश्वघोष को ही है जिसने धूलि को स्वर्ण मे परिणत कर उसमे शाश्वत चमक उत्पन्न कर दी है।

सुन्दरी

सुन्दरी अपने कुल की परम सुन्दरी तथा प्रियतम के प्रेम मे चक्रवाकी की तरह पगी इस काव्य की प्रधान मुग्धा नायिका है। शील और सौन्दर्य

१. सौन्दरनन्द १७ ६३। २ सौन्दरनन्द, १७ ६७।
३ सौन्दरनन्द, १८।१०। ४ सौन्दरनन्द, ५।५७।

की प्रतिमा के रूप मे कवि ने उसका चित्र आँका है। वह तीन नामो मे अभिहित की जाती थी। जनपद के लोग उसे सौन्दर्य और रूप के कारण सुन्दरी, स्तम्भ और गर्व के कारण मानिनी, तथा दीप्ति एव मनस्विता के कारण भामिनी कहते थे[1] उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अश्वघोष ने लिखा है—

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा ।

भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥ सौ० ४।४ ।

हास्यरूपी हसवाली नयनरूपी भ्रमरवाली, पीनस्तनरूप उन्नत पद्मकोशवाली वह स्त्रीरूपी कमलिनी सूर्यवंश प्रसूत नन्दरूपी दिवाकर से अत्यन्त सुशोभित हुई। वह अपने प्रियतम के अभाव मे उसी प्रकार नहीं शोभित हुई जिस प्रकार निशाकर के अभाव म निशा। उसका मुखमण्डल जो तमाल पत्रवष्टित था उस शैवल सम्पृक्तवरविज के समान शोभता था जिसके अग्रभाग पर नील भ्रमर बैठा हो। वह अपन प्रिय से एक क्षण के लिय भी विलग नही होना चाहती थी। जब उसने सुना कि प्रियतम भगवान बुद्ध के द्वारा प्रव्रजित हो गया है, तब वह शोक सन्तप्त हो रोने लगी। उसका सौन्दर्य फीका होने लगा और वह परिम्लान पद्मिनी की तरह दीखने लगी। उसके सौन्दर्य की विवर्णता का चित्रण करते हुए कवि न लिखा है—

तस्या मुख पद्मसपत्नभूत पाणौ स्थित पल्लवरागताम्रे ।

छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य बभौ नत पद्ममिवोपरिष्टात् ॥ सौ० ६।११।

अरुण किसलय के समान ताम्रवर्ण हाथ पर सन्यस्त पद्मसपत्नभूत उसका मुख ऐसे सुशोभित हुआ जैसे जल मे विनिमित कमल के प्रतिबिम्ब पर झुका हुआ कमल शोभता है।

सुन्दरी अपन प्रिय के अभाव में चक्रवाकी की तरह कूजती रही है। नात्याधिक काल के लिय वह अपन प्रियतम को शका की दृष्टि से भी देखती है लेकिन उसकी सखियाँ उसे आशा दिलाती हैं कि तुम्हारे बिना वे एक क्षण भी नहीं रह सकते, क्या चेतना के बिना शरीर रह सकता है ? क्या काया के बिना छाया रह सकती है ? कभी नहीं। तुम तो उनके शरीर की चेतना हो। अन्त मे वह विश्रब्ध होती है और अपने पति की शुभ कामना करती है।

परमकारुणिक, विशेषदर्शिन् भगवान् बुद्ध को इन पक्तियों मे भी सुन्दरी के चरित्र का उत्कर्ष प्रकट होता है—

ध्रुव हि संश्रुत्य तव स्थिर मनो निवृत्तनानाविषयैर्मनोरथैः ।

वधूगृहे ऽपि त्वदनुकुर्वती करिष्यते स्त्रीषु विरागिणीः कथाः ॥

---

१ सौन्दरनन्द, ४।२१।

त्वयि परमधृतौ निविष्टतत्वे भवनगता न हि रंस्यते ध्रुवं सा ।
मनसि शमदमात्मके विविक्ते मतिरिव कामसुखै परीक्षकस्य ॥
सौन्दरनन्द १८।५९–६०।

अर्थात् जब तुम्हारी पत्नी यह जान जायगी कि मेरे पति सभी कामनाओं से मुक्त हो विरागी हो गये हैं तो वह भी तुम्हारा ही अनुकरण करती हुयी स्त्रियों के बीच सन्यास और विरक्तिभाव की कथाएं कहेगी। परमवृत्ति में निविष्ट जानकर उसे भी भवन में आनन्द नहीं मिलेगा, क्योंकि चित्त के शान्त हो जाने पर विरागियों को कामसुख की इच्छा नहीं होती है।

इससे यह प्रकट होता है कि सुन्दरी अपने प्रियतम की अनुरागिणी प्रियतमा थी। पति को जो अभीष्ट है उसको भी वही अभीष्ट है। इन दो पद्यों को भगवान् बुद्ध से कहलाकर अश्वघोष ने सुन्दरी को आदर्श पतिव्रता तथा प्रेम-परायणा नारी के रूप में चित्रित किया है।

इन दो पात्रों के अतिरिक्त भी अश्वघोष ने तथागत तथा शुद्धोदन के चरित्र का चित्रण किया है। गौतम जन्मकाल से ही दृढसकल्पी तथा स्थितप्रज्ञ चेतना के प्राणी थे। उनके हृदय में प्रारम्भ काल से ही विरक्ति की भावना जाग्रत थी। अतएव विविध प्रकार के आमोद प्रमोद की सामग्रियों के होने पर भी वे इस भवजाल में बधकर मानुषी जीवन को योंही व्यर्थ बिताना श्रेयस्कर नहीं समझते थे। वे जन्म मरण को सम्यक रूप से नष्ट कर निर्वाण की आकांक्षा करनेवाले पुरुष थे इसलिये उनके हृदय में असार संसार के प्रति आसक्ति नहीं हुई। उद्वेग के कारण उन्होंने निर्वाण में अपने मन का प्रणिधान किया और चुपके से एक रात घर से उसी प्रकार निष्क्रमित हो गये जिस प्रकार मथित कमल वाले सरोवर से कलहंस। सर्वप्रथम वे ज्ञान की प्राप्ति के लिये अराड[१] के समीप गये लेकिन वहाँ भी उन्हें शान्ति नहीं मिली और एक दिन बोधि–वृक्ष के निकट ध्यानस्थ होकर उन्होंने मंगलमय अविनाशी पद को प्राप्त किया जो सदा नित्य है। उन्होंने चार आर्यसत्यों का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर उसका तत्त्व लोगों को बताया। सर्वप्रथम उन्होंने कौण्डिन्य को दीक्षित किया तत्पश्चात् काशी तथा गिरिव्रज जाकर अन्य लोगों को भी विनीत किया।

अश्वघोष ने गौतम को सौन्दरनन्द में परम उपदेष्टा तथा विशेषदर्शिन के रूप में चित्रित किया है। भगवान् बुद्ध ने केवल अपनी ही मुक्ति नहीं चाही अपितु उन्होंने संसार के प्राणियों का भी उद्धार करना चाहा उन्होंने अपनी

१. सौन्दरनन्द, ३।६५।

ज्ञानमयी ज्योति से प्राणियों के अन्त: प्रदेश में वर्तमान तमस्तोम को तिरोहित कर दिया। बुद्ध का व्यक्तित्व चिन्मयस्वरूप का प्रतीक है जिसमें अहर्निश सत्य शिव की भावना तथा निर्वाण के अनिर्वचनीय आनन्द की अभिव्यक्ति हो रही है।

प्रकृति-चित्रण

सौन्दर्य भावना में कलात्मकता की प्राण-भावना समन्वित करने के लिये प्रकृति के अनन्त प्रसार का उन्मुक्त विस्तार अपेक्षित है। प्रकृति रागात्मक भावों के आवेष्टन में अव्यक्त सौन्दर्य के पट को चित्रित करती है। प्रकृति के रम्यप्राण विस्तार में किसलय के अंचल से बहनेवाली मदमाती हवा, विहगों का कोमल कलरव, कोकिल की रसवती काकली, पल्लव पर्यंक पर सोनेवाली कलिकाओं की बिखरी रंगीनी तथा सद्यस्मित उषा के सौन्दर्य का समन्वित रूप प्रत्यक्षित होता है उसका अवलोकन कर कलाकार भावुक बन जाता है और उन सौन्दर्य रूपों को वह अपने काव्य का अलंकरण बना लेता है। प्रकृति की विशाल चेतना से कलाकार का जब परिचय होता है तब उसकी व्यापकता में वह स्वतः तन्मय हो जाता है।

कवि अश्वघोष भी प्रकृति की कोमल प्राण रंगीनियों की आभा से असपृक्त नहीं रहे हैं। दार्शनिक कवि होने के कारण उन्होंने प्रकृति का उतना हृदयग्राही और सप्राण वर्णन नहीं किया है जितना कि एक सौन्दर्यचेता कवि के लिये अपेक्षित है। ऐसा मालूम पड़ता है, मानो प्रकृति की रम्यता से उनकी दार्शनिक रीझता ही नहीं। सौन्दरनन्द में कई ऐसे स्थल हैं जहाँ प्रकृति का कोमल और स्वाभाविक चित्रण जमकर किया जा सकता था, लेकिन महाकवि ने केवल प्राकृतिक रूपों का स्पर्श मात्र किया है। कवि ने प्रकृति की तरंगित सुषमा को अभिव्यक्त करने के लिये भाषा की चित्रात्मक व्यंजना तथा शब्दों के अनुपम एवं सुखावह कोमल कान्त पदावलियों का सहारा नहीं लिया है। फिर भी कहीं कहीं प्रकृति के कोमल चित्रों का आकलन अवश्य किया है। कपिल मुनि के आश्रम के वर्णन में प्राकृतिक सौन्दर्य का अभिनव चित्र देखा जा सकता है—

> चारुवीरुत्तरुवन प्रस्निग्धमृदुशाद्वलः ।
> हविर्धूमवितानेन यः सदाभ्र इवाबभौ ॥
> मृदुभिः सैकतैः स्निग्धैः केसरास्तरपाण्डुभिः ।
> भूमिभागैरसकीर्णैः साङ्गराग इवाभवत् । सौन्दरनन्द, १।६-७।

कपिल मुनि का आश्रमसुन्दर लताओं और वृक्षों के वन था। वहाँ का पथ अत्यन्त स्निग्ध और कोमल तृणों से आच्छादित था। हविर्धूम के

प्रसून वितान से वह आश्रम मेदुरकान्तियुक्त मेघमण्डल के समान शोभता था। उस आश्रम का अगराग कोमल तथा स्निग्ध विकतामय केसरों की शय्या से पाण्डुरवर्णी भूमिभागों से हुआ था।

यद्यपि यहाँ काव्य सौन्दर्य के वर्णन के लिये कवि ने अप्रस्तुत विधान की योजना की है तथापि प्राकृतिक सौन्दय का चित्रण आह्लादपूर्ण है।

वातावरण के निर्माण में प्रकृति तथा घटनाओं में सहज अनुरूपता होती है। कवि जिस चरित्र या घटना का वर्णन करता है पार्श्वभूमि में प्रकृति के वातावरण की वर्णना वह उसी के अनुरूप करेगा। ऐसी अवस्था में प्रकृति और मानव के बीच परस्पर तादात्म्य की सम्मोहक भावना का उदय होता है और प्रकृति की रूपाकृति अत्यधिक प्राणवन्त और प्रभावक होती है। महाकवि अश्वघोष ने कपिलमुनि के आश्रम का वर्णन इसी वातावरण के आश्रय में किया है। हिमालय के शुभ्र अचल में जिस आश्रम की निर्मिति हुई थी वह तपोनिकेतन के स्वरूप शान्त और पवित्र था—

पर्याप्तफलपुष्पाभिः सर्वतो वनराजिभिः
शुशुभे ववृधे चैव नरः साधनवानिव
नीवारफलसन्तुष्टैः स्वस्थैः शान्तैः अनुत्सुकैः।
आकीर्णोऽपि तपोभृद्भिः शून्यशून्य इवाभवत्॥ सौ० १।१०।

सर्वत्र चतुर्दिक पर्याप्त फल पुष्पों एवं वनराजियों से उस आश्रम की शोभा और वृद्धि साधनसम्पन्न पुरुष की तरह हुई। नीवार तथा फलों में सन्तुष्ट स्वस्थ शान्त और अनुत्सुक ऋषियों के समाकीर्ण होने पर भी वह आश्रम शून्य की तरह प्रतीत होता था। तपोभूमि की इस प्राजल वर्णना से उसकी पवित्रता और शान्तिमयता की ध्वनि प्रस्फुटित होती है।

प्रकृति और जीवन का साहचर्य स्वाभाविक है। महाकाव्यों में जिस प्रकृति और घटनाओं की योजना होती है उसमें मानवीय जीवन और प्रकृति का अनवद्य तादात्म्य दृष्टिगत होता है और यह निकट सम्बन्ध अत्यन्त स्वाभाविक और प्राणवान दीखता है। सौन्दरनन्द में तपस्वियों की भूमि में विचरण करते हुए मुनियों से विनय की शिक्षा पाये हुए मृगों की वर्णना इसी के अनुकूल है—

अपि क्षुद्रमृगा यत्र शान्ताश्चेरुः समं मृगैः।
शरण्येभ्यस्तपस्विभ्यो विनयं शिक्षिता इव। सौ० १।१३।

उस कपिल मुनि के आश्रम में घातक पशुओं में मृग विश्रब्ध होकर विचरते थे। ऐसा मालूम पड़ता था मानो उन्हें शरणागत वत्सल मुनियों से विनय की शिक्षा मिली हो।

इसमें कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार का सहारा लेकर वर्णन को और भी विशिष्ट कर दिया है। महाकवि अश्वघोष की कोमल कल्पना कभी कभी काफी प्रभावक और अनुरागात्मक होती है। उनके भाव जब कल्पना के पंख फड़का कर उड़ते हैं तो ऐसा लगता है मानो काव्य गगन में इन्द्रधनुषी बन्दनवार सज गया हो। कोमल कल्पना समन्वित एक प्राकृतिक अंकन द्रष्टव्य है—

> विरेजुर्हरिणा यत्र सुप्ता मध्यानु वेदिषु।
> सलाजैर्माधवीपुष्पैरुपहारा कृता इव॥ सौ० १।१२।

उस आश्रम की मध्यवेदियों पर सोए हरिणक इस तरह मालूम पड़ते थे मानो वे लाव और माधवी फूलों के साथ उपायन में चढ़ा दिये गये हों।

इन बिखरे माधवी फूलों में कवि ने हरिणकों की दैहिक विश्रान्ति का अवलोकन किया है। प्रकृति का यह चित्रण अत्यन्त शोभन और सम्मोहक है।

सौन्दरनन्द में प्रकृति के उद्दीपन रूप का भी वर्णन प्राप्त होता है। नन्द अपनी प्रिया के वियोग में विह्वल है, उसे प्रकृति की मनोहारिता रिझाती नहीं वरन् उसे और भी उद्दीप्त और चंचल कर देती है—

> गन्धं वमन्तोऽपि च गन्धपर्णा गन्धर्ववेश्या इव गन्धपूर्णा।
> तस्यान्यचित्तस्य शुगात्मकस्य घ्राणं न जह्रुर्हृदयं प्रतेपुः॥ सौ० ७।१०।

गन्धर्ववेश्या के समान गन्धपूर्ण मनस्पृक् वृक्षों ने अपनी सुरभि का विस्तार करते हुए भी उस शोक सतप्त तथा अन्यमनस्क नन्द के प्राण का सन्तर्पण नहीं किया, अपितु उसे उद्दीपित ही किया। यहां प्रकृति का चित्र स्वाभाविक न होकर उद्दीपक एवं कृत्रिम है।

> सरक्तकण्ठैश्च विनीलकण्ठैस्तुष्टैः प्रहृष्टैरपि चान्यपुष्टैः।
> लेलिह्यमानैश्च मधु द्विरेफैः स्वनद्वनं तस्य मनो नुनाद॥ सौ० ७।११।

सरक्तकण्ठवाले मयूरों, सन्तुष्ट एवं प्रसन्न हृदय कोकिलों तथा मधु का स्वाद लेते हुए भ्रमरों से गुंजित उस वन ने उसके चित्त का विनोदन नहीं किया।

नन्द कहीं कहीं प्रकृति की वस्तुओं को देखकर अपनी प्रिया का स्मरण भी करता है—

> पुष्पावनद्धे तिलकद्रुमस्य दृष्ट्वान्यपुष्टां शिखरे निविष्टाम्।
> संकल्पयामास शिखां प्रियायाः शुक्लांशुकेऽट्टालमपाश्रितायाः॥
> सौ० ७।७।

इसमें नन्द को प्रकृति से तादात्म्य की भावना मिलती है। वह प्रकृति की वस्तुओं को देखकर असीम मानसिक आनन्द का अनुभव करता है।

अश्वघोष के प्रकृति-वर्णन मे कहीं कहीं अत्यन्त स्वाभाविकता लक्षित होती है। भावो को अभिव्यक्ति में रसपेशलता तथा स्निग्धता होती है। स्वर्ग की प्रफुल्ल प्रकृति का एक चित्र देखिये—

रक्तानि फुल्लाः कमलानि यत्र प्रदीपवृक्षा इव भान्तिवृक्षाः।
प्रफुल्लनीलोत्पलरोहिणोऽन्ये सोन्मीलिताक्षा इव भान्तिवृक्षाः॥
सौ० १०।२१।

रक्त कमलो के वृक्ष उस प्रदीपवृक्ष की भाँति शोभते थे और पुष्पित नील कमलो से युक्त वृक्ष इस तरह लगते थे मानो उनकी आँखें उन्मीलित हो गई हैं। कवि की प्राकृतिक कल्पना अत्यन्त निराली और मौलिक है।

अश्वघोष की प्रकृति कहीं उपदेशक के रूप में भी दीखती है। सौन्दरनन्द के दशम सर्ग मे उनकी प्रकृति उपदेशात्मक है—

चलत्कदम्बे हिमवन्नितम्बे तरौ प्रलम्बे चमरो ललम्बे।
छेत्तु विलग्नं न शशाक बाल कुलोद्गतां प्रीतिमिवार्यवृत्तः॥
सौ० १०।११।

हिमालय के नितम्बप्रान्त पर जहाँ कदम्ब के वृक्ष हिल-डुल रहे थे, एक वृक्ष की डाल पर एक चमर लटक रहा था। उसने अपनी पूँछ न काटी, जैसे आर्यवृत्त-वाला पुरुष अपनी कुलोद्‌गत मित्रता को भङ्ग नहीं करता। यहाँ कवि ने आर्य संस्कृति का वर्णन प्रकृति के महनीय उपमान से करके उसकी महत्ता को द्विगुणित कर दिया है।

सौन्दर्य की तरलित भावना सबको आप्यायित करती है। उसके दर्शन से सभी प्राणियों के हृदय मे रूप-चेतना और स्फूर्ति का विकास हो जाता है। सौन्दर्योन्मुखी प्रवृत्ति होने के कारण मानव सौन्दर्यप्राण वस्तुओ की ओर आकृष्ट होता है और उसके प्रभाव से अभिभूत हो उस सौन्दर्यसिक्त भावना की अभिव्यक्ति के लिये वह आकुलता का अनुभव करता है। अपनी प्राणमयी भावनाओं को वह इस प्रकार अभिव्यक्त करना चाहता है कि अध्येता उसकी शब्दावली को सुनते ही उसका मनोयोगपूर्वक आस्वादन कर आह्लाद का अनुभव करे। इस प्रकार की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति के लिये उसे अनुपम उपकरणो की अपेक्षा होती है। यद्यपि कवि का हृदय रसवलित होता है फिर भी उसे सक्षम और जीवन्त बनाने के लिये शब्दालंकारो एवं शब्दशक्तियों की सहायता लेनी पड़ती है। अनेक प्रकार से कवि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है, फिर भी यदि वह रसतृप्त नहीं होता है तो भावों की उत्कृष्टता तथा अनुभव को तीव्र कर उसे प्रेषणीय और सहज स्वाभाविक बनाने के लिये

अलंकारो की सहायता लेता है, क्योंकि अलंकार तो रस के उपस्कारक धर्म हैं। कवि को उपमा, रूपक तथा व्यतिरेकादि अलकारों के द्वारा प्रतिपाद्य विषय की मनोहारिता को अभिव्यंजनापूर्ण बनाने के लिये प्राकृतिक सुन्दरता की सच्ची परख करनी होती है। वह प्रकृति की ही वस्तुओ मे सौन्दर्य के कमनीय उपमानो का दर्शन करता है और सौन्दर्य के सभी प्रसन्न उपमानो को प्रकृति के क्षेत्रों से सचित कर काव्य-श्री का अभिनव शृगार करता है।

महाकवि अश्वघोष ने भी अपने काव्य-सौन्दर्य के रमणीय उपमान प्रकृति के कमनीय क्षेत्र से ही चुने हैं। भावो मे तीव्रता लाने के लिये ही उन्होने प्रकृति का आलकारिक वर्णन किया है। एक दो आलकारिक वर्णन द्रष्टव्य हैं :—

तस्या मुखं तत्सतमालपत्रं ताम्राधरोष्ठं चिकुरायताक्षम्।
रक्ताधिकाग्रं पतितद्विरेफं सशैवलं पद्ममिवाबभासे ॥
सौ० ४।२१।

यहाँ कवि ने सुन्दरी के मुख-सौन्दर्य के वर्णन के लिये प्रकृति के रमणीय क्षेत्र से सुन्दरतम और प्रेषणीय उपमानो का संचयन किया है। तमालपत्र से युक्त तथा लाल अधरोष्ठ एवं चचल आँखो से विलसित मुखमण्डल की शोभा का साधर्म्य कवि ने शैवलसम्पृक्त सरसिज मे देखा है जिसके अग्रभाग पर काले कजरारे भौंरे बैठे हो। इसमे कवि एक ओर सुन्दरी की मुख-शोभा से अभिभूत होता है और दूसरी ओर शैवल से घिरे कमल से। दोनो के अनुपम सौन्दर्य की स्वरूपात्मक प्रभावान्विति से वर्णन अतीव स्वाभाविक हो गया है।

रमणीय एवं कान्तिमत् शरीर की शोभा को प्रस्फुटित करने के लिये काव्यकारो ने विद्युत का उपमान चुना है। काले कजरारे नील नभोमण्डल के मध्य कभी-कभी विच्छुरित होनेवाली विद्युच्छटा प्राणियों के हृदय देश में अभिनव सौन्दर्य को उद्बुद्ध कर देती है। अश्वघोष कृत सुन्दरी के सौन्दर्य-वर्णन का एक दृश्य देखिये :—

ताभिर्वृता हर्म्यतलेऽङ्गनाभिश्चिन्तातनुः सा सुतनुर्बभासे।
शतह्रदाभिः परिवेष्टितेव शशाङ्कलेखा शरदभ्रमध्ये ॥
सौ० ६।३७।

उन अङ्गनाओं से प्रासाद पर आवृत वह चिन्ताक्षीण सुन्दरी उसी प्रकार शोभित हुई जैसे शरत्कालिक बादलों के मध्य दामिनियों से घिरी चाँदनी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि अश्वघोष की दार्शनिक प्रवृत्ति को भी प्रकृति ने बलपूर्वक आकृष्ट कर लिया है। प्रकृति के रम्य उपमान ने कवि

के अन्तःप्रदेश मे सौन्दर्य का मानो अभिषिचन कर दिया है। अगर ऐसा न होता तो दार्शनक कवि अश्वघोष प्रकृति का ऐसा वर्णन भी न कर पाते। *कविकुलगुरु कालिदास की प्रकृति की शालीनता का दर्शन तो अश्वघोष क्या,* बाद के भारवि और माघ की कविताओं में भी उपलब्ध नही होता है। अश्वघोष की कविता तो प्रारम्भिक काल की है, अतएव उसमे वह मनोहरता और दिव्यानुभावों की उत्कृष्टता नही मिलती जो कालिदास मे प्राप्त होती है।

प्रकृति और मानव-जीवन मे *एकात्म भाव का दर्शन होता है। कालिदास ने* इसका अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। उन्होंने प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृत्तियो मे मानवीय प्रवृत्तियों का दर्शन किया है। जहाँ कही भी उन्होने प्रकृति का वर्णन किया है उसमे वह मानवीय भावों का प्रतिनिधित्व करती जान पड़ती है। *मेघदूत मे यक्ष अपनी प्रिया का आश्लेष करने के लिये शून्य आकाश मे अपनी* भुजाएँ फैलाता है, लेकिन अपनी प्रिया का गाढ़ालिङ्गन उसे नहीं हो पाता है। प्रकृति उसकी उस दशा पर आँसू बहा देती है।[1] इस चित्रण मे हमे ऐसा *मालूम होता है, मानो प्रकृति और मनुष्य की प्रकृति एक ही है। दोनो समान भाव की भावना करते हैं। लेकिन महाकवि अश्वघोष के काव्यो मे इस प्रकार* की तादात्म्यपूर्ण प्रकृति के स्वाभाविक चित्रण का दर्शन नही हो पाता है। जहाँ कहीं भी उन्होने प्रकृति को अपने काव्यो मे आश्रय दिया है, वहाँ वे मानो काव्य के बधनो को पूरा करते दृष्टिगत होते हैं।

वस्तु वर्णन—

महाकवियो की यह विशेषता रही है कि वे छोटी सी छोटी वस्तुओ को भी हृदयग्राही वर्णनो से सरस और अभिव्यंजक बना देते हैं। मौलिक प्रतिभा एवं पैनी सूझ के आधार पर अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा अत्यन्त नगण्यवस्तु को भी भावों की रगीनी से ऐसा चमत्कृत कर देते हैं कि वह आकर्षक एवं हृदय-रम्य प्रतीत होती है। कवि के काव्य की सफलता तभी होती है जब कि उसकी अभिव्यक्ति को सामान्यपाठक भी पढ़कर या सुनकर समान प्रीति का अनुभव करे। जिस वस्तु का वर्णन कवि ने अपने शब्द-चित्र के द्वारा प्रस्तुत किया, वह यदि पाठक के मन को छूकर आह्लादित कर दे, तो समझिये कवि की कला प्रेषणीय और प्रभावक है। कवि जिन वस्तुओं का वर्णन अपने काव्य मे करता है, वह किसी न किसी रूप मे आलम्बन का ही स्वरूप धारण करती है। अतएव जबतक कवि अपने आलम्बनों की वर्णना मे स्वयं तन्मय न होगा तब तक वह दूसरों को तन्मय नहीं कर सकता।

---

१. मेघदूत।

कवि अपनी वस्तुओं के वर्णन में दो वृत्तियों का सहारा लेता है। पहली अभिधावृत्ति का और दूसरी व्यंजना वृत्ति का। एक के द्वारा वह अपने वाच्य अर्थ की अभिव्यक्ति करता है तो दूसरे के द्वारा काव्य प्राण ध्वन्यर्थ को सफल अभिव्यंजना करता है। प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत की योजना करते समय कवि का ध्यान प्रस्तुत की स्वाभाविकता को सौन्दर्यसिक्त करने में ही रहता है और वह चाहता है कि हमारी वर्ण्य वस्तु का अप्रस्तुत सार्वजनीन हो, जो सर्वसाधारण के चित्त में भी उद्बुद्ध हो सके। कवि की प्रतिष्ठा सामान्य वस्तु के असामान्य और अलौकिक वर्णन में है। वस्तु सौन्दर्य के भाव-कमल को यदि कवि पाठक के हृदयसरोवर में विकसित नहीं कर पाया तो वह महाकवि के पद का अधिकारी कदापि नहीं हो सकता।

अश्वघोष का काल सरल शैली एवं सुकर भावना का काल था, उस समय कवि अपने वैदुष्य प्रदर्शन की जगह सरस और सुन्दर भावों को सरल अभिव्यंजना करने में ही अपने को कृतकृत्य मानता था। अपने पाण्डित्य को वह इस प्रकार काव्यकला से समजित कर देता था कि वह बाहर से अतीव कोमल और सरस लगता है, उसमें कहीं भी कृत्रिमता और आयाससिद्धता का प्रदर्शन नहीं है।

कपिल के आश्रम का वर्णन—

क्रान्तदर्शी मुनि कपिल का आश्रम हरित भरित एवं सौन्दर्य पुलकित हिमालय के शुभ्र अंचल में था। उन्होंने कठिन तपस्या प्रारम्भ कर उसमें परेष्यता प्राप्त की। व अपने शिष्यों की देखना मुनि वशिष्ठ की भाँति करते थे। मुनि का आश्रम पर्याप्त फल-पुष्पों, कमल सरोवरों सुन्दर वनानियों तथा कोमल स्निग्ध कबर वर्णी पाण्डुर भूमि भागों से सुसज्जित था। उस आश्रम में अनेकों मुनि अपने धार्मिक कार्यों में संलग्न होकर सोमरस के साथ यज्ञ किया करते थे।[1] वे अपने धर्म को ही अपना उत्तम धन समझकर पालन करते थे। इक्ष्वाकुवंश के कुछ राजकुमार यहाँ आरण्यक जीवन-लाभ के लिये आये। उनका शरीर स्वर्ण स्तम्भ की भाँति तथा छाती सिंह की जैसी चौड़ी थी। उनकी भुजायें अत्यन्त बलवती और समृद्ध थीं, लेकिन उनमें दयालुता और नम्रता की भावना थी। मुनि कपिल उनके उपदेष्टा हुए। राजकुमार वहाँ शाक्य कहलाये, क्योंकि उनका निवास स्थल शाकवृक्षों से आच्छादित था।[2] मुनि कपिल ने जब स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया तब उन्होंने हाथियों और बाघों की नृशंस हत्या की। मुनियों ने उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को देखकर का तार प्रदेश का निवास

१ सौन्दरनन्द, १।१५। २. सौन्दरनन्द, १।२४।

छोड दिया और हिमालय की शरण ली। राजकुमारो को यह जानकर अतीव दुःख हुआ कि उन लोगो ने इस स्थान का परिवर्तन कर दिया। कालान्तर मे राजकुमारो ने उस स्थान पर प्रचुर धन की प्राप्ति की, और उससे वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर नगर का निर्माण किया, जहाँ की सडकें, दुर्ग एव परिखाए अत्यन्त मनोरम और भव्य दीखती थी। वहाँ उन लोगो ने चारित्रधन से सम्पन्न दीर्घदर्शी शूर तथा दक्ष परिवारो को बसाया।[1] बुद्धि और वाणी से सम्पन्न मन्त्रियो को उनके अनुरूप कर्मों मे नियुक्ति की।[2] वह नगर धन का निधान, तेज का आधान, विद्या का मन्दिर तथा सम्पत्ति के गुप्त स्थान सा लक्षित होता था उस नगर का नाम कन्द, मकन्द और कुशाम्ब की तरह कपिल के नाम पर कपिल वस्तु पडा। वे राजपुत्र आचरण के अविरति के रूप मे प्रख्यात हुए।

हिमालय वर्णन

प्रकृति की मनोरम सौन्दर्यभावना सभी प्राणियो को आकर्षित करती हैं। सभी के हृदय मे प्रकृति की छवि-प्राण शोभा आनन्द का सागर उडेल देती है। कवि तो और भी सौन्दर्य द्रष्टा होता है। सामान्य जन जिस वस्तु को साधारण दृष्टि स देखते हैं कवि उसको वह उसके सम्भाव्य उत्कृष्ट रूप मे देखता है। कवि का हिमालय वर्णन वस्तुत उनकी सौन्दर्य प्राण भावना का शालीन प्रत्यक्षीकरण है। हिमालय का वर्णन कवि कालिदास के 'कुमारसम्भवम्" मे तदा "नावनीतकम्" मे मिलता है। कवि कालिदास का हिमालय वर्णन कवि अश्वघोष की अपेक्षा अधिक रसपेशल है। अश्वघोष का हिमालय वर्णन भी स्वाभाविक और हृदयावर्जक है।

कवि ने हिमालय का वर्णन करते समय वहाँ की प्राकृतिक शोभा का आकलन बडा सम्मोहक रूप से किया है। प्राकृतिक सौन्दय का कुछ चारु चित्र दखिये —

> बह्वायते तत्र सिते हि शृङ्गे सक्षिप्तबर्हं शयितो मयूर ।
> भुजे बलस्यायतपीनबाहोर्वैदूर्यकेयूर इवाबभासे ॥
>
> सौ० १०।८।

हिमालय के दीर्घ आयत एव श्वेत शिखर पर एक सक्षिप्त बर्हभार वाला मयूर सोया पडा था। वह इस प्रकार शोभित हुआ मानो बलराम की पीन आयत वाली भुजा का केयूर पडा हो जो वैदूर्यमणि का निर्मित था।

---

१ सौन्दरनन्द, १।१५। २ सौन्दरनन्द, १।५३।

कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार का सहारा लेकर चित्र को और भी शालीन तथा प्रेषणीय बना दिया है।

> व्याघ्र क्लमव्यायतखेलगामी लांगूलचक्रेण कृतापसव्यः।
> बभौ गिरेः प्रस्रवणं पिपासुर्ददत्सन्पितृभ्योऽम्भ इवावतीर्णः॥
>
> सौ० १०।१०।

श्रान्ति के कारण शनैः शनैः चलकर एक व्याघ्र अपनी चक्रतुल्य पूँछ को दाहिने स्कन्ध पर स्थापित कर झरने का जल पीने को अभिलाषा करता ऐसा जान पड़ता था मानो कोई नीचे उतर कर बायें हाथ से अपने पितृगणों को तर्पण दे रहा है।

अश्वघोष का यह वर्णन मौलिक और प्रतिभा प्रसूत है। भाव और भाषा का अनुपम सौन्दर्य काव्यकला को प्राणवन्त बनाता दीख पड़ता है। वर्णन की स्वाभाविकता ने काव्य को अनुपमता भी प्रदान कर दी है।

स्वर्ग की छवियों के अंकन में भी कवि अत्यन्त उद्बुद्ध मालूम पड़ता है। वहाँ वृक्ष अनेक प्रकार की वस्तुओं का उत्सर्जन करते हैं:—

> हारान्मणीनुत्तमकुण्डलानि केयूरवर्याण्यथ नूपुराणि।
> एवंविधान्याभरणानि यत्र स्वर्गानुरूपाणि फलन्ति वृक्षाः॥
>
> सौ० १०।२३।
>
> वैडूर्यनालानि च काञ्चनानि पद्मानि वज्राङ्कुरकेसराणि।
> स्पर्शक्षमाण्युत्तमगन्धवन्ति रोहन्ति निष्कम्पतला नलिन्यः॥
>
> सौ० १०।२४।

स्वर्ग में वृक्ष हार, मणि, उत्तम कुण्डल, सुन्दर केयूर, नूपुर तथा स्वर्ग के योग्य आभूषण प्रदान करते हैं। निष्कम्प तलवाले सरोवर स्वर्णकमल उत्पल उत्पन्न करते हैं जिसके नाल वैडूर्य के रहते हैं। अङ्कुर और केसर हीरे के होते हैं। और जो स्पर्श योग्य और गन्धवान् प्रतीत होते हैं।

अप्सराओं के सौन्दर्य–चित्रण में महाकवि अश्वघोष ने काव्य–प्रतिभा का उत्कर्ष दिखाया है। वर्णन की पदावली अत्यन्त सयत और सुन्दुभाव भूषित है:—

> काश्चिदासा वदनानि रेजुर्वनान्तरेभ्यश्चलकुण्डलानि।
> व्याविद्धपर्णेभ्य इवाकरेभ्यः पद्मानि कारण्डवघट्टितानि॥
>
> सौ० १०।३८।

हिलते कुण्डलों से भूषित कतिपय अप्सराओं के मुख वनान्तर में ऐसे शोभित हुए जैसे व्याविद्ध पर्णों वाले सरोवर में कलहंसों के द्वारा हिलाये गये उत्पल शोभते हैं।

कवि ने यहाँ उपमा अलंकार के सहारे वर्णन को अतीव प्रेषणीय और जीवन्त कर दिया है।

अश्वघोष के वर्णनो की अनुभूति मे जीवन की विमल-विभूति का समंजन दीखता है। कपिल मुनि के आश्रम के वर्णन मे प्रकृति की पृष्ठभूमि मे रखकर कवि ने उसकी पवित्रता और शान्त नीरवता का वातावरण उपस्थित कर दिया है। शुचि सानु शरीर वाले शोभनतम हिमालय का वर्णन भी कम प्रभावोत्पादक नही है। कवि की अन्त.प्रवृत्ति यद्यपि प्राकृतिक छटा के देखने में उतनी नहीं रीझी है, फिर भी उसमे आकर्षक तत्त्व विद्यमान है। दर्शन के तत्त्वों से प्रभावित होने के कारण कवि का लक्ष्य दार्शनिक वस्तुओं का विश्लेषण करना ही अधिक रहा है। कवि हिमालय के वर्णन मे अपनी प्राणवन्त प्रतिभा का खुला प्रयोग कर सकता था लेकिन दो चार पद्य के बाद ही वह नन्द के कल्मषचित्त के पवित्रीकरण का दृश्य उपस्थित कर देता है। अतएव वस्तु-वर्णन की अप्रतिम क्षमता होते हुए भी कवि उसका सफल प्रयोग करने में अक्षम हो गया है।

परिशिष्ट—१

सौन्दरनन्द का महाकाव्यत्व

सौन्दरनन्द लोकमाङ्गलिक जीवन के महत्त्वपूर्ण औदात्य का महाकाव्य है जिसमे विश्व मानवता के आध्यात्मिक उन्नयनोत्कर्ष का चित्रण युगानुरूप सभ्यता तथा संस्कृति के परिमापूर्ण परिवेश मे हुआ है। निष्णात कला-प्रज्ञा, *अप्रतिम शास्त्र-वैदुष्य तथा विलक्षण काव्य कौशल के लोकविश्रुत कवि अश्व*घोष ने बौद्धधर्म एवं दर्शन को स्पृहणीय तथा लोकग्राह्य बनाने के लिये काव्य-मार्ग का आश्रयण प्राप्त किया था। आध्यात्मिक एव दार्शनिक सर्वोपरिता की अनन्य निष्ठा से समाहित कवि की अन्तश्चेतना को यह अनुभूत हुआ था कि जरामरण के भय से कुण्ठित, भवतृष्णा से लुण्ठित तथा नाश की अँधेरी निशा एवं मृत्यु की घनेरी नींद मे आबद्ध बहिर्गामी मन ध्यान, निरीक्षण एवं सम्यक् चिन्तन के उपरान्त ही भास्वर चैतन्य सूर्य का दर्शन करता है। जगत् द्वन्द्व से सम्मोहित, नैतिकता स उपरत मन जब तक दृढ तर्क-बुद्धिगत सत्य का अधिगम नहीं कर लेता तब तक *इन्द्रिय-रथ पर अनुक्षणधावित अन्त:स्थित मन* अक्षय रस के निर्वाण-सिन्धु मे आप्यायित नहीं होता। परिणामतः कवि ने *शील, सत्व, नीति तथा धर्म-दर्शन के शाश्वत मूल्यों को विश्व-मृष्टि मे रूपायित* करने के लिये काव्य को साध्य नहीं अपितु साधन के रूप में इसलिए स्वीकार किया है कि वह त्याग, सार्वभौम लोकोपकार, लोकसंग्रह तथा अनवद्य जीवन-दर्शन का निर्वचन स्पष्टता, सजीवता तथा सुन्दरता के साथ करके शुष्क जन-मानस को आकृष्ट कर सके, क्योंकि उनके काव्य का महदुद्देश्य 'व्युपशान्तये' है, 'रतये' नहीं।

प्रसंगतः यहाँ यह विवेच्य है कि सौन्दरनन्द साहित्य है या दर्शन ? वस्तुतः साहित्य सौहित्य का समीकरण एवं वैचारिकता का प्रज्ञात्मक दर्शन है। अनुभूत विचार-सरणि जब अनुभूति की विभूति से समुपेत होती है तभी उच्चतम महनीय काव्य की सृष्टि होती है। परमतत्त्व की अनुसन्धित्सा मे अत्यवहित कवि की मनोभावना जितनी *तन्मयीभूत रहती है उतनी अन्य मनुष्यों की नहीं। यही कारण है कि* कवि दार्शनिक परिवेश मे अपने चिरन्तन सत्य को अभिव्यक्ति करता है।

परमोदात्त भावनाओं की अवदात एवं अनवद्य अभिव्यक्ति के साथ आध्यात्मिक शाश्वत सत्य का प्रत्यक्षीकरण काव्य का उपनिषद्भूत तत्त्व है।

दर्शन सत्य का सौन्दर्य है और काव्य सौन्दर्य का सत्य, अत दोनो के समन्वित परिवेश मे ही जीवन की महीयता उन्नीत हो सकती है। मूलत- चिरन्तन सत्य की अवाप्ति दोनो को काम्य है

जहाँ दर्शन बुद्धि के वैशद्य से विश्व के प्रपञ्चात्मक जगत् मे समरस हो सत्य की प्रत्यभिज्ञा प्राप्त करता है वहाँ काव्य अनुभूति एव तपपूत अन्तर्दृष्टि द्वारा अलोकसौन्दर्य का अन्वेषण करता है। हृदय से अनुशासित बुद्धि काव्य मे सक्रियता प्राप्त करती है अत उसमे बौद्धिक तर्क सरणि का अभाव रहता है। सामान्यत काव्य जीवन के शाश्वत-सत्य की आस्था का परिणाम है, अनुभूति के प्रति विश्वास का सम्प्रत्यय है। अनुभूति एव प्रतिभा के माध्यम से विश्व के रहस्य का प्रत्यक्षीकरण काव्य है तथा बुद्धि द्वारा विश्व का अभिज्ञान-प्रयत्न दर्शन। इस प्रकार सौन्दरनन्द काव्य और दर्शन का उत्तमोत्तम निकष है जिस पर हृदय की अनुभूति और बुद्धि की विभूति की पुष्कल एव आलोक प्रवण स्वर्ण रेखाएँ विकीर्णित हो रही हैं।

सौन्दरनन्द का महाकाव्यत्व कथा-सयोजन, रसपरिपाक, सौन्दर्यबोध, व्यापक चरित्रसृष्टि, अभिव्यञ्जना एव रचना-शिल्प आदि सभी दृष्टियो से उपबृहित हुआ है। महाकाव्य के भाव-गाभीर्य तथा कलात्मक आकर्षण के लिये कथा-सयोजन का अप्रतिम चिन्तन अपरिहार्य है। अश्वघोष न सौन्दरनन्द क कथा सयोजन मे अप्रतिम कला-प्रज्ञा का परिचय दिया है। नन्द के धर्म परिवर्तन का उपाख्यान यद्यपि महावग्ग तथा निदान-कथा म उपनिबद्ध है किन्तु उसमे काव्यात्मक आकर्षण का औदात्य नहीं है। कवि ने अपूर्व कलानै पुण्य के साथ उपाख्यान का निरूपण किया है जिससे उनको अपनी पौराणिक अभिज्ञा के प्रदर्शन का अवकाश प्राप्त हो गया है। राजा शुद्धोदन के अपूर्व वर्णन क साथ ही नन्द तथा सर्वार्थसिद्ध के जन्म का अतिसक्षिप्त वर्णन करके कवि बुद्ध का सविस्तर वर्णन करता है और पुन- कथा को आधिकारिक कथा से अनुस्यूत करने के लिये नन्द तथा सुन्दरी के अव्यवहित प्रेम तथा रूपाकर्षण का कलात्मक एव दिव्य उपनिबन्धन प्रस्तुत करता है। सुन्दरी के सौन्दर्यपाश म आबद्ध नन्द विगततृष्ण हो उसे नहीं छोडता अपितु रागात्मक व्यतिपत्ति से पर्याकुल हो जाता है। किन्तु तथागत उसकी मन स्थिति के नितान्त भिन्न भिक्षुरूप मे उसे दीक्षित करते हैं। सुन्दरी को इसम अपार क्षोभ और वदना होती है। नन्द रागात्मक एव कामसुख की भावना से अभिभूत हो स्वय अपनी प्रियतमा क साथ रहने की मनोमिलाषा का विविधविध पौराणिक उपाख्यानो के द्वारा समर्थन करता है। अग्रज- नन्द को स्त्रियों की दुर्दम मनोवृत्तियो तथा अवगुणो से अवबोधित तथा पुरोवर्ती

वीरो के मोघ अहंकार के दुर्गुणों के विषय मे अत्यवहित किया जाता है। बुद्ध नन्द को कामपङ्क से उपरत तथा पराङ्मुख करने के लिये सौन्दर्य पुलकित तथा शृंगार विलसित स्वर्ग मे ले जाते हैं तथा मार्ग में शुभ्र शांति मे समाधिस्थ हिमाद्रि पर एक विद्रूप एकाक्ष बानरी को निर्देशित कर यह पूछते हैं कि क्या तुम्हारी प्राणवल्लभा सुन्दरी इससे अधिक सम्मोहक और लावण्यमयी है। नन्द अपनी प्रिया के सौन्दर्य को अधिक सम्मोहक और उत्कृष्टतम बताता है किन्तु स्वर्गीय रूप-ज्योति अप्सराओं को देखकर वह सुन्दरी को विस्मृत कर देता है तथा रूपतरग मे अभिषेकित एक अप्सरा को पत्नी रूप मे ग्रहण करने का सकल्प करता है, किन्तु उसे यह देशना दी जाती है कि यदि वह इस लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे स्वकीय पुण्यकर्मों से स्वर्गजयी बनना होगा। पृथ्वी पर प्रत्यावर्तित हो वह अभीष्ट-सिद्धि के लिये यत्नशील होता है किन्तु आनन्द स्वर्ग सुख की अस्थायिता का निर्देश कर उसे निश्चेष्ट कर देता है। तदनन्तर ऊर्ध्वचित्त नन्द स्वर्गिक असार सुख विचार को अपावृत करने तथा बुद्धोपदेश को अन्तश्चेतना से प्राप्त करने के लिये समुद्यत होता है। नन्द क्रमशः निर्वाण-सिन्धु में समधिस्थ हो सूक्ष्म चेतना प्राप्त करता और पुनः लोकमांगलिक चेतना के प्रसार के लिये व्रतनिष्ठ होता है।

उपर्युक्त कथा-शिल्प मे महाकवि अश्वघोष की अपूर्व कला-प्रज्ञा, वैदग्ध्यपूर्ण कल्पना तथा लोक विश्रुत बहुज्ञता का दर्शन होता है। लोकविश्रुत इतिवृत्त को प्राप्त कर कवि ने विविधविध घटनाओं के नियोजन एव स्वतः कल्पित अवान्तर कथाओ के संयोजन से कथाप्रवाह को गतिशील तथा अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा की है। महत् उद्देश्य से अनुप्राणित होने के कारण महाकाव्यात्मक कथानक के अनिवार्य तत्वों (सध्या, सूर्य, रजनी, प्रदोष, प्रात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वर, सरिता, सागर यज्ञ, यात्रा आदि का वर्णन) के निरूपण में कवि सचेष्ट नहीं है अपितु नन्द के अन्तर्मन के द्वन्द्व की योजना तथा उसकी अन्त प्रवृत्तियो एव मनोवृत्तियों के सूक्ष्म आकलन मे नितान्त अवहित है। प्रसगसापेक्ष्य वर्णनो के प्रति यत्र तत्र कवि का अन्तः करण आवर्जित भी हुआ है। प्रथम तथा द्वितीय सर्ग मे कवि ने वन प्रकृति के सुरम्य प्रान्त म अवस्थित कलिवस्तु तथा पुत्रोत्पत्ति का कल्पना प्रवण वर्णन किया है। दसवें सर्ग म स्वर्ग का वर्णन अतीव अप्रतिम तथा अनुरञ्जक हुआ है। सत्रहवें सर्ग मे आध्यात्मिक युद्ध क वर्णन में तो कवि की अलौकिक कल्पना का वैशिष्ट्य ही साकार हो गया है। यह वर्णन वीरकाव्योचित तथा गरिमापूर्ण है जिसमे नन्द की आध्यात्मिक विजय का रहस्य प्रस्फुटित हुआ है।

छठे सर्ग मे सुन्दरी के विलाप का वर्णन अत्यन्त कारुणिक एवं मर्मस्पृक है जो किसी भी सहृदय के अन्तःकरण को विगलित किए बिना नहीं रह सकता। सातवें सर्ग मे उपनिबद्ध नन्द के विलाप वर्णन मे भी प्रणयोदधि की तरल तरंगो मे आलोडित तथा मदोन्मत्त यौवन के उद्दाम वेग निर्झर मे उद्वेलित व्यक्ति की अन्तर्वृत्तियों का दर्शन किया जा सकता है जिसके लोचन कामिनी दामिनी की द्युति चितवन से चकित हो गये हैं। समासतः कवि का कथा-संयोजन बारहवें सर्ग तक अप्रतिहत रूप मे पुरस्कृत होता है किन्तु १३वें सर्ग के पश्चात् कथा प्रवाह मे शैथिल्य दृष्टिगत होता है और यह गतिबद्धता दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के कारण है जिसके लिये कवि अपने उद्घोषित लक्ष्य के कारण दोषमुक्त ही कहा जा सकता है। व्यापक भाव भूमि के अभाव के कारण सौन्दरनन्द के कथाशिल्प तथा प्रबन्ध-कल्पना मे जो शिथिलता आ गयी है, उसका परिमार्जन कवि ने नन्द की उज्ज्वल चरित्र सृष्टि द्वारा करने की चेष्टा की है।

सौन्दरनन्द के वस्तुविधान मे मौलिक प्रसग तथा नवीन उद्भावनाओं का स्वरूप भी अभिव्यक्त हुआ है। घटना विरलता तथा वर्णन विस्तार के कारण इसका कथानक यद्यपि संक्षिप्त है किन्तु उदात्त भाव तथा विचार-तत्त्व की दृष्टि महाकाव्योचित है। नन्द का सम्पूर्ण जीवन यद्यपि इसमे व्यक्त न हो सका है जो अपेक्षया अनिवार्य था, तथापि इस महाकाव्य में नन्द-चरित्र को बौद्धिक तथा नैतिक रूप दिया गया है जो युग जीवन के सांस्कृतिक महाप्रवाह के अनुरूप है। कथावस्तु मे विविधता, रोचकता तथा अन्तिम पाच सर्गों मे धारावाहिकता का अभाव महाकाव्यात्मक कथानक की गरिमा को अवश्य न्यून करता प्रतीत होता है किन्तु यह ध्यातव्य है कि यह महाकाव्य घटना प्रधान नहीं विचार प्रधान है। सौन्दरनन्द के कथानक मे कपिलवस्तु का कल्पना प्रवण वर्णन, प्रेमपाश मे आबद्ध नन्द तथा सुन्दरी के दाम्पत्य जीवन का वर्णन तथा सुन्दरी एवं नन्द का विलाप एवं स्वर्ग का वर्णन अतीव मौलिक है। राजा शुद्धोदन के चरित्र वर्णन मे तो कवि ने मानवीय संस्कृति की उदात्त महाघता का ही निरूपण किया है जो सार्वभौम तथा शाश्वत है। शुद्धोदन के चारित्रिक इतिवृत्त मे भारतीय संस्कृति का जितना महिमामय और गौरवमय आयोजन हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सौन्दरनन्द के कथानक का सबसे महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से बौद्ध संस्कृति के इतिहास का मूल्यांकन तथा धर्म दर्शन का निरूपण है।

रस परिपाक की दृष्टि से सौन्दरनन्द शान्त रस का शालीन काव्य है। भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि से महाकाव्य मे सभी रसों की निष्पत्ति अपेक्षित

है और शृंगार, वीर एवं शान्त रस में से किसी एक का प्राधान्य होना चाहिये, क्योंकि काव्य का उपनिषद्भूत तत्त्व रस है। सौन्दरनन्द में शान्त रस की प्रधानता दृष्टिगत होती है। इसके अतिरिक्त शृंगार करुण, वीर, इत्यादि रसों की भी काव्य में योजना हुई है।

शान्त रस तो इस काव्य का अंगीभूत रस है, किन्तु काव्य की प्रस्तुत कथावस्तु में शृंगार रस की प्रभावव्यञ्जना अतीव आकर्षक है।

शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों रूप सौन्दरनन्द में मिलते हैं। सुन्दरी तथा नन्द के मिलन-प्रसंग तथा रूपासक्ति के वर्णन प्रसंग में शृंगार रस के संयोग पक्ष की अतीव सम्मोहक व्यञ्जना हुई है। यथा :—

> ता सुन्दरी चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः।
> द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ॥
> कन्दर्परत्योरिव लक्ष्यभूतं प्रमोदनान्द्योरिव नीडभूतम्।
> प्रहर्षतुष्ट्योरिव पात्रभूतं द्वन्द्वं सहारंस्त मदान्धभूतम्॥ ४।७ ८।

उपर्युक्त पंक्तियों में शृंगार विलसित मधुर प्रेम की अपूर्व व्यंजना हुई है। उभय पक्षीय अनुराग की अद्वयता, रूपासक्ति तथा सहजोदात्त प्रेम की तीव्रता का निरूपण कर कवि ने प्रेम की स्वाभाविक स्थिति का मनभावन अंकन किया है।

सौन्दर्य की रूप तरंग में विलसित सुन्दरी को छोड़ कर जब नन्द चला जाता है, तो उसके हृदय की अन्तर्वृत्तियों के निरूपण में कवि ने विप्रलम्भ शृंगार का बड़ा ही मर्मस्पृक् एवं स्पृहणीय वर्णन किया है। यथा—

> तामङ्गना प्रेक्ष्य च विप्रलब्धा निःश्वस्य भूयः शयनं प्रपेदे।
> विवर्णवक्त्रा न रराज चाशु विवर्णचन्द्रेव हिमागमे द्यौः॥
> सा पद्मरागं वसनं वसाना पद्मानना पद्मदलायताक्षी।
> पद्मा विपद्मा पतितेव लक्ष्मीः शुशोष पद्मास्रगिवातपेन॥

उपर्युक्त दोनों पद्यों में कवि ने विरहिणी सुन्दरी की विरहदशा का मार्मिक चित्रण किया है। विरह की अन्तर्दशा के कारण सुन्दरी का प्रभापु ञ्जित मुख विवर्ण हो गया और वह उसी प्रकार शोभित नहीं हुआ जैसे हिम ऋतु के आने पर विवर्ण चन्द्रमा। पद्मराग वसन वाली वह सुन्दरी जिसका मुख कमल के समान तथा आयताकार आँखें पद्मपर्ण की भाँति थीं, पद्मरहित पद्मा की तरह हो गयीं और आतप में पद्मस्रक् की तरह कुम्हलाने लगीं। रसबोध की दृष्टि से यह विप्रलम्भ-वर्णन सहृदय संवेद्य कलात्मक तथा भावा-

भिव्यंजक है। विरहकालीन स्पदशा के चित्रण मे निम्नांकित पद्य भी भाव-स्वेद्य है—

ताभिर्वृता हर्म्यतलेऽङ्गनाभिश्चिन्तातनु सा सुतनुर्बभासे।
शतह्रदाभिः परिवेष्टितेव शशाङ्कलेखा शरदभ्रमध्ये॥

हर्म्यतल पर अंगनाओं से समावृत प्रतनु-अतनु-कोमल वह सुन्दरी ऐसे शोभित हुई जैसे शारत्कालिक मेदुर मेचक मेघों के अभ्यन्तर सौदामिनियों से घिरी रजत ज्योत्स्ना। प्रौढ कविकल्पना तथा वर्णनवैचित्र्य की अपूर्वता तथा रसबोध एवं मर्मप्रज्ञा का जैसा सुन्दर समन्वय इस पद्य मे हुआ है, वह अन्यत्र अनुमेय है।

यौवन के *आतप* मे विकसित तथा कल्पलता-सी कोमल *प्राणवल्लभा* सुन्दरी के वियोग मे नन्द की मनश्चेतना भी पर्याकुल हो गयी है। वह भार्या रणिसभूत तथा वितर्कधूमायित कामाग्नि से दह्यमान हो विलाप कर रहा है क्योंकि उसकी अन्तर्वृत्तियाँ सक्षुब्ध हो गयी हैं —

स तत्र भार्यारणिसम्भवेन वितर्कधूमेन तम शिखेन।
कामाग्निनान्तर्हृदि दह्यमानो विहाय धैर्यं विललाप तत्तत्॥

सौन्दरनन्द मे विप्रलम्भ शृंगार के अनेक ऐसे मार्मिक एवं भावपूर्ण स्थलों की योजना भी हुई है, जिनके द्वारा कवि के भाव-चित्रण की कुशलता तथा अपूर्व रसपरिपाक का पूर्ण परिचय मिलता है। शृंगार के दोनों पक्षों के अपूर्व चित्रण से कवि का सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण रूपायित होता है और शृंगार पूर्ण प्रेमतत्त्व की व्यञ्जना, अपूर्व रसबोध तथा भावात्मक सरसता भी प्राप्त होती है।

सौन्दरनन्द मे करुण रस की भी मार्मिक व्यञ्जना हुई है जिसमे सुन्दरी की विरहभावना से अनुप्राणित मनोदशा का तथा पर्याकुल चित्तवृत्तियों का करुणाकलित रूप दृष्टिगत होता है। यथा—

स चक्रवाकीव भृशं चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षतचक्रवाका।
विस्पर्धमानेव विमानसंस्थैः पारावतैः कूजन लोल कण्ठैः॥
सा सुन्दरी श्वासचलोदरी हि वज्राग्नि सम्भिन्नदरी गुहेव।
शोकाग्निनान्तर्हृदि दह्यमाना विभ्रान्त चित्तेव तदा बभूव॥

महाकाव्य मे वीर रस का वर्णन भी अपेक्षित है। महाकवि अश्वघोष ने शाश्वत जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये असत् पर सत् की विजय का रूप आकलित किया है। नन्द अपने जीवन संग्राम मे अवतरित है और वह

जीवन युद्ध के भयावह सघर्षों पर विजय प्राप्त करता है। कवि ने नन्द के जीवन युद्ध तथा सघर्षों का रूपात्मक वर्णन किया है जिसमे वीरकाव्य के प्रतिमानो का अनवद्य रूप दृष्टिगत होता है। यथा—

सज्ज्ञानचाप स्मृतिवर्मबध्वा विशुद्धशीलव्रतवाहनस्थः।
क्लेशारिभिश्चित्तरणाजिरस्थैं सार्धं युयुत्सुर्विजयायतस्थौ ॥
तत स बोध्यङ्गशितस्तशस्त्र सम्यक्प्रधानोत्तमवाहनस्थः।
मार्गाङ्गमातङ्गवताबलेन शनैः शनैः क्लेशचमू जगाहे ॥
स स्मृत्युपस्थानमयै. पृथक्कै शत्रून्विपर्यासमयान् क्षणेन ।
दु खस्य हेतूश्चतुरश्चतुर्भिः स्वै स्वै. प्रचारायतनैर्ददार ॥
आर्यैर्बलैः पञ्चभिरेव पञ्च चेतः खिलान्यप्रतिमैर्बभञ्ज ।
मिथ्याङ्गनागाश्च तथाङ्गनागैर्विनिद्रुधावाष्टभिरेव सोऽष्टौ ॥

उपर्युक्त पद्यों मे कवि ने नन्द को युद्धवीर के रूप चित्रित किया है। वह विशुद्धशीलव्रत वाहन पर स्थित हो शोभनज्ञानचाप तथा स्मृतिवर्म से युक्त हो चित्तरणाङ्गण मे वर्तमान क्लेश शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये सप्रस्थित होता है। पुन बोध्यङ्ग रूपी निशित शस्त्रो को लेकर तथा सम्यक् प्रधानोत्तम वाहन पर आरूढ़ होकर अष्टागिक आर्य मार्ग के अष्टमातङ्गबलो के साथ क्लेशचमू मे प्रविष्ट होता है। वह चार स्मृत्युपस्थानरूपी तीरो से दु ख के कारणरूप मिथ्याज्ञानरूपी शत्रुओ को प्रतिहृत एव विदीर्ण कर देता है और अद्वितीय पांच आर्यबलो के द्वारा पाँच चेत खिलो को ध्वस्त कर देता है।

कवि के उपर्युक्त वर्णन मे वीररसात्मक भावानुभूतियो का अलौकिक एवं रूपकात्मक चित्र निरूपित हुआ है। साग रूपक की नियोजना कर कवि ने वीर रस की अपूर्व सृष्टि की है जिससे महाकाव्योचित वीर रसौचित्य के निर्वहण मे कवि को अपूर्व सफलता मिली है।

शान्तरस के निरूपण मे भी कवि को अपूर्व सफलता मिली है। मोक्ष और अध्यात्म की भावना से शान्त रस की उत्पत्ति होती है। निर्वेद से उत्पन्न तत्त्वज्ञान ही इस रस का स्थायीभाव है। सासारिक विरक्ति या अनासक्ति मे अथवा भोगो की क्षणभंगुरता और दु खरूपता से निर्वेद (सर्वनिर्वेद) एव नि.स्पृहता उपलब्ध होती है। नन्द को जब तत्त्वज्ञान से निर्वेद उत्पन्न होता है तो उसे स्वावमानता, अनुताप, आत्मग्लानि एवं मनस्ताप की अनुभूति होती है और अपनी निर्विण्ण दशा का अनुभव करते हुए वह कहता है :—

उर्व्यादिकात् जन्मनि वेद्मि धातून्नात्मानमुर्व्यादिषु तेषु किञ्चित्।
यस्मादतस्तेषु न मेऽस्ति सक्तिर्बहिश्च कायेन समा मतिर्मे ॥

स्कन्धाश्च रूपप्रभृतीन्दशाधन्विदयामि यस्माच्चचलानसारान् ।
अनात्मकांश्चैव वधात्मकाश्च तस्माद्विमुक्तोऽस्म्य शिवेभ्य ॥
यस्माच्च पश्याभ्युदय व्यय च सर्वास्ववस्थास्वहमिन्द्रियाणाम् ।
तस्मादनित्येषु निरात्मकेषु दु खेषु मे तेष्वपि नास्ति सग ॥

उपर्युक्त पक्तियो मे नन्द की शान्त शुभ्र एव तत्त्वज्ञान सवलित अन्त-श्चेतना का कवि ने शालीन निरूपण किया है। सासारिक वस्तुओ की क्षण-भगुरता तथा भोगो की असारता के कारण उसे निर्विशेषचित्तवृत्ति प्राप्त हो गयी है एव अनित्यात्मक एव निरात्मक वस्तुओं मे सगता निर्गत हो गयी है।

सुपशान्ति एव वैराग्यपूर्ण अन्तश्चेतना के निरूपण के लिये कवि ने सर्वत्र शान्तरस का वातावरण उपस्थित किया है। प्रकृति के अन्धतमस एव *आकर्षण के प्रति व्यमोहन तथा निर्वेद के उपरान्त उत्पन्न अवसादपूर्ण वाता-वरण के निवृत्तिपरक निरूपण में कवि की अपूर्व कला प्रज्ञा तथा वैराग्यभावो का* दर्शन होता है।

अन्तर्जगत् एव बहिर्जगत् के वैभिन्य एव वैचित्र्य को गृहीता अपनी चेतना म रूपायित करता है और उसे जोवन की परिधि मे सौन्दर्य के माध्यम कला क सत्यरूप मे व्यक्त करता है। समस्त रूपात्मक जगत् मे वर्तमान रागात्मक एव विरागात्मक रूपो को सामजस्य की अन्तर्वृत्तियो से अनुस्यूत कर कवि एक नव्य जीवन चेतना की सिसृक्षा से व्यष्टि-समष्टि मे रूपायित जीवन को विविध विध वृत्तियो को समूर्तित करता है। समूर्तन की कला भगिमा जितनी सम्मोहक और हृदयावर्जक होती है कलाकार की कृति उतनी ही शाश्वत एवं सुन्दर होती है। *वस्तु मे सौन्दर्य निहित नहीं होता, सौन्दर्य व्यक्ति को प्रकाशन-वक्रता में है।*

सौन्दर्य प्रत्यभिज्ञात होने के कारण स्पृह्य और ग्राह्य है, परिणामत· विरूपता काव्य मे निराकरणीय एव अग्राह्य हो जाती है। काव्य का सौन्दर्य-बोध कवि की अलौकिक तत्त्वानुभूति मे है जो लोकसामान्य होकर चिरन्तन सत्य के रूप मे व्यक्त होती है। महाकवि अश्वघोष की सौन्दर्यानुभूति का दर्शन प्रकृति के रूपो तथा जीवन सत्य के रहस्यों के सूक्ष्म निरीक्षण मे प्राप्त होता है। यद्यपि कवि की अन्तश्चेतना जीवन को गहन दार्शनिक वृत्तियो मे अवविक्त है तथापि प्रकृति को रागात्मक चेतना को उन्होंने पूर्णता प्रदान की है। *कवि प्रकृति की विविधता को रूपायित एव समूर्तित करने मे यद्यपि* अक्षम रहा है किन्तु जितना वह रूपायित कर सका है, उसमे उनके सौन्दर्य बोध का चरम सत्य लक्षित होता है। हिमालय के शुभ्र अञ्चल म निर्मित

तपोनिकेतन रूप आश्रम के रूपांकन में कवि का सौन्दर्यबोध देखिये :—

> वाल्वोल्ततरुवनः प्रस्निग्धमृदुशाद्वलः ।
> हविर्धूम वितानेन यः सदाभ्र इवाबभौ ॥
> मृदुभिः सैकतैः स्निग्धैः केसरास्तरपाण्डुभिः ।
> भूमिभाग सकीर्णे: साङ्गराग इवाभवत् ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि की अलौकिक कल्पना तथा प्रकृति की सम्मोहक सुषमा की रागात्मकतन्मयता की अभिज्ञा लक्षित होती है। उपमा तथा उत्प्रेक्षा के माध्यम कवि ने अपनी रहस्यात्मक अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान कर उसे तीव्र और व्यञ्जक बना दिया है।

प्रकृति के रागात्मक रूपों के अङ्कन में कवि की अन्तश्चेतना उद्बुद्ध हो गयी है और उसमें उन्होंने मानव प्रकृति के रहस्यों को निरूपित किया है :—

> रक्तानि फुल्लाः कमलानि यत्र
> प्रदीपवृक्षा इव भान्ति वृक्षाः ।
> प्रफुल्लनीलोत्पलरोहिणोऽन्ये
> सोन्मीलिताक्षा इव भान्ति वृक्षाः ॥

मनभावन एवं प्राणवन्त प्रकृति के अनवद्य सौन्दर्य में मानवीय चेतना स्वयं रूपायित होने लगती है। क्योंकि दोनों में अविभक्त भावना का समीकरण होता है। नन्द भी प्रकृति में अपनी वृत्तियों को रूपायित देखता है और वह तिलक वृक्ष के पुष्पित शिखर पर समासीन कोकिला को देखकर अट्टालिका पर समाश्रित शुक्लांशुका प्रिया के वेणीबन्ध की कल्पना करता है। —

> पुष्पावनद्धे तिलकद्रुमस्य दृष्ट्वान्यपुष्टां शिखरे निविष्टाम् ।
> सङ्कल्पयामास शिखां प्रियायाः शुक्लांशुकेऽट्टालमपाश्रितायाः ॥

प्रकृति की रूपात्मक एवं भावात्मक सौन्दर्य चेतना से मानवीय वृत्तियाँ तरलित हो उठती हैं। मयूरों के मादक गायन, प्रसन्न एवं पुलकित परभृतों की अनिल तरंगित मधुर तान तथा विकच पुष्पों की मधु मदिरा से आप्यायित मत्त मधुपों के गुञ्जन से सम्मोहित वह किसे आवर्जित नहीं करता :—

> सरक्तकण्ठैश्च विनीलकण्ठैस्तुष्टैः प्रहृष्टैरपि चान्यपुष्टैः ।
> लेलिह्यमानैश्च मधुद्विरेफैः स्वनद्वनं तस्य मनोनुनोद ॥

व्यापक सौन्दर्य-बोध एवं सम्प्रेषणीयता के लिये कवि ने अनुपम एवं अलौकिक चित्र योजना भी प्रस्तुत की है। अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने के लिये तथा स्वीय अनुभूति को अत्यधिक संवेद्य, ग्राह्य तथा स्पष्ट करने के लिये ही चित्र-योजना की अपेक्षा होती है। चित्र योजना में कल्पना का योगदान अवर्णनीय

है। रंजक कल्पना के माध्यम कवि जीवानुभूति की तीव्रता को बिम्बों में रूपायित करता है अथवा अमूर्त भावों को कल्पना के अपूर्व-योग से मूर्त करता है जिसमें अर्थग्रहण तथा बिम्बग्रहण दोनों समुपेत होकर आकर्षक हो जाते हैं।

गहन संवेदना और तीव्र भावानुभूति के आधार पर कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा रूपायित वस्तुओं को संश्लिष्ट रूप प्रदान करता है। और इस रूप चित्रण में कवि की संवेदना प्रधान होती है। लक्षित चित्र योजना में कवि विभाव अनुभाव, प्रकृति तथा वातावरण को मूर्तमान करने का प्रयत्न करता है। लक्षित चित्र-योजना में सामूहिक चित्र तथा व्यक्ति चित्र दोनों कल्पित होते हैं। महाकवि अश्वघोष ने स्वगदर्शन सर्ग में सामूहिक चित्र-योजना का भव्य निरूपण किया है जो अत्यन्त कलात्मक, भावप्रवण एवं संवेद्य है—

> चलत्कदम्बे हिमवन्नितम्बे तरौ प्रलम्बे चमरो ललम्बे।
> छेत्तुं विलग्नं न शशाक बालं कुलोद्गतां प्रीतिमिवार्यवृत्तः॥
> सुवर्णगौराश्च किरातसंघा मयूरपत्रोज्ज्वलगात्रलेखाः।
> शार्दूलपातप्रतिमा गुहाभ्यो निष्पेतुरुद्गार इवाचलस्य॥
> दरीचरीणामतिसुन्दरीणां मनोहरश्रोणिकुचोदरीणाम्।
> वृन्दानि रेजुर्दिशि किन्नरीणां पुष्पोत्कचानामिव वल्लरीणाम्॥
> नगान्नगस्योपरि देवदारूनायासयन्तः कपयो विचेरुः।
> तेभ्यः फलं नापुरतोऽपजग्मुर्मोघप्रसादेभ्य इवेश्वरेभ्यः॥

यहाँ कवि ने चमर, किरात, किन्नरी तथा कपिगणों का सामूहिक चित्र प्रस्तुत किया है जिससे प्रकृति का भव्य वातावरण संश्लिष्ट चित्र में परिकल्पित हो गया है। अप्रस्तुतों के कारण चित्रों का सौन्दर्य स्वाभाविक एवं गतिशील हो गया है अलौकिक कल्पना, अनवद्य अप्रस्तुत विधान तथा स्वाभाविक समुत्तन कला की समन्विति से अभिव्यक्ति में सजीवता सक्रान्त हो गयी है।

व्यक्तिगत चित्रयोजना में कवि की कला प्रज्ञा और भी प्रभविष्णु हो गयी है। सामान्यतया रूप चित्रण में अश्वघोष ने अप्रस्तुत योजना का आश्रय लिया है। भावोत्कर्षक तथा औचित्यपूर्ण चित्र योजना में कवि ने सौन्दर्य की अपूर्वता को मूर्तित कर दिया है—

> अथो नतं तस्य मुखं सबाष्पं प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु।
> वक्राग्रनालं नलिनं तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवावभासे॥
> नन्दस्ततस्तरुकषायविरक्तवासाः—
> श्चिन्तावशो नवगृहीत इव द्विपेन्द्रः।

पूर्णे घशी बहुलपक्षगत- क्षपान्ते
बालातपेन परिषिक्त इवाबभापे ॥

प्रथम पद्य में कवि ने यहाँ नन्द के शिरोरुह अवहरण काल का चित्र निरूपित किया है। शिरोरुह अवहरण काल में नन्द का अश्रुपूरित अवनत मुख पुष्कर में वर्षोदक से क्लिन्न उस कमल की भाँति शोभित हुआ जिसके नाल का अग्रभाग झुक गया हो। 'नत' तथा 'सबाष्प' ये दो शब्द नन्द की मार्मिक मनोदशा तथा अनुरूप अन्तर्वृत्तियों से पूर्ण मुख मुद्रा की एक एक रेखाओं को उभार कर सामने ले आते हैं।

द्वितीय पद्य की चित्र योजना में कवि ने यौगिक अप्रस्तुत योजना के माध्यम भिक्षु-वेश का सौन्दर्य अङ्कित किया है। शुभ्रवर्ण के कान्त कलेवर पर रक्तिम विरक्त वसन वाले नन्द की छवि बालातप से परिषिक्त, बहुल पक्ष में अवस्थित निशान्तकालीन पूर्ण चन्द्र की भाँति द्योतित हुई। सौन्दर्यप्रिय कवि की यह चित्र योजना अतीव भावात्मक तथा सजीव हो गयी है।

उदात्त एवं सम्मोहक चित्र-योजना में कवि की प्रौढ़ कला प्रज्ञा अतीव व्यञ्जक हो गयी है। कवि ने एक-से-एक उत्कृष्ट चित्र-योजना प्रस्तुत कर अपनी काव्य शैली का उपबृंहण किया है—

काषायवासाः कनकावदातस्ततः स मूर्ध्ना गुरवे प्रणेमे ।
वातेरितः पल्लवताम्रराग पुष्पोज्ज्वलश्रीरिव कर्णिकारः ॥
इत्येवमुक्तो गुरुबाहुमान्यात्सर्वेण कायेन स गां निपन्नः ।
प्रवेरितो लोहितचन्दनाक्तो हैमो महास्तम्भ इवाबभासे ॥

दोनों पद्यों में दो सौन्दर्यप्राण चित्रों की परिकल्पना की गयी है। कनकावदात काषायवसन नन्द ने नतमुख हो प्रणाम किया, मानो स्वकीय पल्लवों से ताम्रवर्ण तथा पुष्पों से उज्ज्वल कर्णिकार वात विकम्पित हो पृथ्वी पर झुक गया हो।

यहाँ कवि ने नन्द के सौन्दर्य निरूपण में रंगों और रेखाओं की योजना की है तथा अप्रस्तुत विधान की कलात्मकता से उसे स्पृह्य बनाने की चेष्टा की है। भावना के अनुरूप शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण तथा कल्पना में परस्पर एक रूपता का विधान यहाँ अतीव आकर्षक हुआ है।

द्वितीय पद्य में भी नन्द का सौन्दर्य-वर्णन उत्प्रेक्षा द्वारा किया गया है। विनायक बुद्ध के प्रति समादर भावना के कारण सम्पूर्ण शरीर से पृथ्वी पर निपन्न नन्द को देखकर कवि कल्पना करता है कि लोहित चन्दनोचित स्वर्णिम महास्तम्भ मानो पृथ्वी पर प्रवेरित हो गया हो।

चित्र योजना के माध्यम कवि ने पुरुष-सौन्दर्य का ही नहीं अपितु नारी सौन्दर्य का भी सूक्ष्म एवं शालीन अंकन किया है। स्वर्ग की स्त्रियों के रूप सौन्दर्य के निरूपण में कवि की कलात्मक कल्पना का रूप दर्शनीय है —

> काश्चिद्विलासा वदनानि रेजुर्वनान्तरेभ्यश्चलकुण्डलानि।
> व्याविद्धपर्णेभ्य इवाकरेभ्य पद्मानि कारण्डवघट्टितानि ॥
> ता निःसृता प्रेक्ष्य वनान्तरेभ्यस्तडित्पताका इव तोयदेभ्य।
> नन्दस्य रागेण तनुर्विवेपे जले चले चन्द्रमस प्रभेव ॥

चलकुण्डलो वाले सुर सुन्दरियो के मुख वनान्तर से ऐसे शोभित हुए, जैसे व्याविद्धपर्ण सरोवर मे कलहसो द्वारा विकम्पित कमल शोभित हो रहे हो।

वनान्तर से निकलने वाली देवाङ्गनाएँ, मेदुर मेचक मेघो से निकलने वाली विद्युत्पताका की भाँति दृष्टिगत हुई, उन्हे नन्द देखकर रागात्मकभावनाओ से तरल चञ्चल जल मे विकम्पित चन्द्रमरीचि की तरह काँपने लगा।

दोनो पद्यो मे कवि ने भावात्मक सौन्दर्य के अंकन के लिये अप्रतिम चित्र योजना प्रस्तुत की है कल्पना की उत्कृष्टता तथा अप्रस्तुत विधान की सूक्ष्मता के कारण चित्र योजना और भी प्रभावक तथा रोचिष्णु हो गयी है।

सम्मोहक रूप तथा रूपानुरूप चेष्टा के कारण अनुपम एवं सौन्दर्यप्राण सुन्दरी की शोभातिशयता का कवि ने भव्य रूपांकन किया है—

> *सा हासहसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा।*
> भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥

प्रस्तुत पद्य मे कवि ने रूपक के माध्यम सुन्दरी के अनवद्य सौन्दर्य एवं शारीरिक सघटन का निरूपण कवि हृदय की रसस्निग्ध भावुकता के साथ किया है। अनुभूतियों से रूप, कल्पना मे रंग तथा भाव जगत् से सौन्दर्य को समीकृत कर कवि ने सुन्दरी का रूप निर्माण किया है। नन्द रूपी दिवाकर से प्रफुल्ल होने वाली स्त्रियो मे पद्मिनी उस सुन्दरी की मधुर मुसकान हंसरूप, नयन भ्रमररूप तथा पीन पयोधर उन्नतपद्मकोश रूप थे। प्रकृति के विराट् सौन्दर्य मे उपमानो का चयन कर कवि ने रूपगर्विता सुन्दरी के अलौकिक एवं अनिर्वच सौन्दर्य की अपूर्व अभिव्यञ्जना की है।

प्रेमात्मक तीव्रता रागात्मक औत्सुक्य, विरह वैकल्य तथा वेदना वैभव आदि की भावदशाओ को कवि ने एक ही पद्य मे अलौकिक प्रतिभा से उपनिबद्ध कर दिया है —

> सा त प्रयान्तं रमणं प्रदध्यौ प्रध्यानशून्यस्थितनिश्चलाक्षी।
> स्थितोच्चकर्णा व्यपविद्धशष्पा भ्रान्त मृगं भ्रान्तमुखी मृगीव ॥

चिन्ता के कारण विषण्ण तथा निश्चल आँखोवाली वह सुन्दरी जाते हुए प्रियतम को ध्यानपूर्वक निर्निमेष नयनो से देखती रही जैसे दूरगमित मृग को मृगी कान खडा कर तथा व्यर्पविद्धशष्प हो अपलक निहारती रहती है।

'प्रदध्यौ' शब्द से यहाँ रागात्मक एकाग्रता, 'प्रध्यान शून्यस्थित' शब्द से *पर्याकुल विषण्णता तथा निश्चलाक्षी'* शब्द से *प्रियतम* के रूप रस के आप्यायन की भाव तीव्रता की कलात्मक व्यञ्जना हुई है। दूसरी पंक्ति मे उपनिबद्ध अप्रस्तुत विधान मे सुकुमारता एव रागानुगा प्रेमपरायणता की स्वाभाविकता एव निश्छलता भी व्यक्त हुई है।

महाकाव्यो मे महच्चरित्रों की प्रतिष्ठा अनिवार्य होती है, अत. उनकी *विभिन्न मनस्थितियो एव अवस्थाओ के उदात्त चित्रण के कारण विविध* विध गुणों एवं वैशिष्ट्यो का चित्रण अपेक्षित होता है। महाकवि अश्वघोष ने नन्द के महच्चरित्र की कल्पना की है और उसकी सम्पूर्ण मनस्थितियो का अभूतपूर्व आकलन कर उसे उदात्त गरिमा प्रदान की है। नन्द की समस्त जीवन कथा क्रियाशील है और उसके अभ्यन्तर मनुष्य की महत्तम उदात्तता तथा गौरवपूर्ण उपलब्धियों की पूर्ण प्रतिष्ठा है। लोकविश्रुत नन्द अलौकिक प्रतिभा तथा महद् व्यक्तित्व से अन्वित है और अन्ततोगत्वा वह ससार-सग्राम मे विजयी होता है। हम उसके जीवन म राष्ट्रीय जीवन का सास्कृतिक परिवेश रूपायित देखते हैं।

नन्द का व्यक्तित्व महाकाव्य के नायक की गरिमा तथा महत्ता के अनुरूप है। इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान शाक्य राज के सदन में उद्‌भूत नन्द मूर्तिमान् कामदेव के समान कमनीय, समागत वसन्त तथा नवोदित चन्द्र के समान आह्लादक था। उसकी बाहुएँ लम्बी थीं, छाती विशाल थी, कधे सिंह के समान थे और आँखें वृषभ की सी थीं।

प्रथमतः नन्द को हम प्रिया के रूप सौन्दर्य मे आबद्ध पाते हैं तथा उसमे कामात्मक भोग भावनाओं तथा विषय वासनाओ की आसक्ति की प्रबलता देखते हैं। नन्द अपनी प्रिया के बिना एक क्षण अलग नहीं रह पाता और वह प्रमोद तथा आनन्द का नीडभूत होकर कालक्षेप करता है। एक दिन तथागत जब उसके घर से अयाचित प्रत्यावर्तित हो जाते हैं तब वह उन्हे देखने के लिये समुत्सुक होता है, किन्तु प्रिया के प्रेम एव तथागत की भक्ति के कारण उसकी स्थिति तरगो पर चलने वाले राजहस की तरह हो जाती है। विनायक के द्वारा प्रव्रजित हो जाने पर भी उसके अन्त करण मे अपनी प्रिया *सुन्दरी के प्रति अनुरक्ति बनी ही रहती है, किन्तु उसमें निर्मोक्षबीज को वर्तमान*

देखकर बुद्ध उसे अनुशासित कर विषयों तथा कामोपभोगों की दु:खरूपता, क्षणभंगुरता तथा असारता का निर्देश करते हैं तथापि कामात्मक अनुशयों से वह व्यतिषक्त ही रहता है। परम कारुणिक तथागत जब उसे स्वर्ग का दर्शन कराते हैं तब उसके हृदय में अनवद्य अप्सराओं के प्रति आकांक्षा की भावनाएँ तरलित होने लगती हैं किन्तु उनकी विद्रूपताओं का अन्वाख्यान कर वे मोहपङ्क से नन्द का उद्धार करते हैं।

तत्त्वज्ञान एवं विशेषविसवृत्ति की अवाप्ति के पश्चात् वह योगारूढ होता है और जीवन संग्राम के संघर्षों को जीत, समाधि तथा प्रज्ञा में जीव लेता है। परम उपदेष्टा की सम्यक् देशना तथा स्वीय पराक्रम से जब उसे परम शान्ति की अवाप्ति होती है तब वह स्वयं अनुभव करता है—

अहं ह्यनार्येण शरीरजेन दु:खात्मके वर्त्मनि कृष्यमाणः।
निर्वार्तितस्तद्वचनाङ्कुशेन दर्पान्वितो नाग इवाङ्कुशेन ॥

नन्द को जब अपनी स्वभावमुक्तता की प्रतीति होती है तब वह तथागत के चरणों में अपनी प्रणति निवेदित करता है। भगवान् बुद्ध कहते हैं :—

उत्तिष्ठ धर्मे स्थित शिष्यजुष्टे किं पादयोर्मे पतितोऽसि मूर्ध्ना।
अभ्यर्चनं मे न तथा प्रणामो धर्मे यथैषा प्रतिपत्तिरेव ॥

तथागत उसे समानधर्मा एवं श्रद्धाबलित देखकर लोक मांगलिक चेतना के अभ्युत्थान के लिये धर्मदेशना देते हैं और यह निर्देश करते हैं कि स्वीय कार्यों का परित्याग कर दूसरों का भी कार्य करो मोहसम्मोहित एवं तमोवृत जीवों के बीच धर्म प्रदीप को धारण करो—

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मनः कुरु स्थिरात्मन् परकार्यमप्यथो।
भ्रमत्सु सत्त्वेषु तमोवृतात्मसु श्रुतप्रदीपो निशि धार्यतामयम् ॥

नन्द के चरित्र में हृदय की विह्वलता एवं मानवोचित स्वभाव-दौर्बल्य का दर्शन तो अवश्य होता है किन्तु अपने उदात्त कार्यों में उस लोकोत्तर शान्ति एवं श्रेय की प्राप्ति होती है। सम्पूर्ण रागात्मक अनुशयों से मुक्त होकर वह लोकसेवा के नैष्ठिक कार्यों में लीन हो जाता है।

इस प्रकार नन्द का आदर्श एवं अनुकरणीय चरित्र महाकाव्योचित गरिमा से युक्त दृष्टिगत होता है। नन्द के उज्ज्वल एवं गौरवान्वित चरित्र में युग-जीवन की आकांक्षाओं का हम प्रतिनिधित्व पाते हैं। वह नम्रता और महार्घता, शील और शक्ति, त्याग और संयम का समन्वयात्मक प्रतीक प्रतीत होता है जिसमें लोकमाङ्गलिक चेतना पूर्णतः व्यतिषक्त दीखती है।

यशोदीप से उन्होने सम्पूर्ण पृथ्वी को आलोकित किया तथा सदार्थियो को सुजनता के कारण दान देकर कृतार्थ किया।

शुद्धोदन धर्मप्राण तथा वदविहित आचार के अनुयायी थे। भोगो के बीच रहने पर भी उनमे इन्द्रियवृत्तिता नही थी। महार्घता एव परमोदात्त चारित्रिक उदात्तता से युक्त शाक्यराज शुद्धोदन राजाओ मे अप्रतिम तथा आदर्श थे:—

> तेनाप्यि यथाकल्प सोमश्च यश एव च।
> वेदश्चाम्नायि सतत वेदोक्तो धर्म एव च॥
> एवमादिभिरत्यक्तो बभूवासुलभैर्गुणै.।
> अशक्यः शक्यसामन्तः शाक्यराज स शक्रवत्॥

इस प्रकार हम सदाचार की शुभ्र आभा से मण्डित शुद्धोदन के चरित्र मे मानव-सस्कृति का भव्य रूप पाते हैं। तन से ऊपर उठकर उन्होने लोकचेतना के लिये अपने को प्रतिष्ठित कर सम्पूर्ण जीवन को सीमाओ को अलौकिक आध्यात्मिकता की अविराम धारा मे निमज्जित कर दिया था।

सुन्दरी के चित्रण मे कवि ने मनोयोग से काम नही लिया है। सुन्दरी *सौन्दर्यप्राण, रूपाकर्षक और पतिप्राणा है। पतिप्रेम मे व्यतिषक्त नारी का* सम्पूर्ण गुण उसमे विद्यमान है। कवि ने सुन्दरी की विरहकालीन मनोदशाओ का भव्य अकन किया है और उसमे उन्हे पर्याप्त सफलता मिली है।

सुन्दरी के सम्पूर्ण चरित्र को कवि ने तीन रूपो मे व्यक्त किया है। प्रथमतः हम उसे नव-परिणीता राजवधू एव आदर्श प्रणयिनी के रूप मे पाते हैं। द्वितीयतः सर्वगुणसम्पन्न आदर्श नारी के रूप मे तथा अन्ततः उसे विरहिणी के रूप मे पाते हैं। सुन्दरी को कवि ने अनिन्द्य-सौन्दर्यशालिनी, दिव्य गुण सम्पन्न, नवपरिणीता के रूप मे प्रस्तुत किया है तथा उसकी विविध मनोरम रूपाकृति का चित्र अकित किया है।

चतुर्थ *सर्ग में नन्द-सुन्दरी का पारस्परिक हास्य विनोद चित्रित है* जिसमे सुन्दरी की परिहासवृत्ति, आदर्श पत्नीत्व एव प्रगाढ प्रेम का परिचय मिलता है। सुन्दरी का अन्त करण आह्लाद, उत्साह और उमंगों से आपूर्ण है। वह चित्रकला प्रवीण, वाक्यपटु तथा प्रणयमज्जित जीवनवाली है।

सुन्दरी के मन मे त्याग की भावना दृष्टिगत होती है किन्तु प्रिय-वियोग उसे असह्य है—

> नाह यियासोर्गुरुदर्शनार्थमर्हामि कर्तुं तव धर्मपीडाम्।
> *गच्छार्यपुत्रैहि च शीघ्रमेव विशेषको यावदय न शुष्क॥*

नन्द के चले जाने पर उसकी आँखें विषण्ण हो जाती हैं और भ्रान्त मृगी की तरह उसे वह निर्निमेष देखती रहती है।

पतिवियोग मे लावण्य प्रतिमा सुन्दरी आतप मे कुम्भलाई पद्मस्रक् की भाँति मूर्च्छित मौन पड़ी दिखायी देती है। षष्ठ सर्ग मे सुन्दरी का चरित्र करुणा की साक्षात् प्रतिमूर्ति बन जाता है और उसकी विरह वेदना के उच्छ्वास छन्दो मे करुणा के प्रतिबिम्ब बन उठते हैं। प्रिय के वियोग मे वह हिमऋतु के विवर्ण चन्द्रमा की तरह अशोभन बन जाती है तथा हाथ पर मुख रखकर शोक जलवाली नदी मे तैरने लगती है। रोते रोते उसकी आँखें रक्तिम हो जाती हैं और सताप से उसका शरीर सक्षुब्ध हो उठता है। सुन्दरी के विरहकालीन रूपो को कवि ने निम्न पद्यो म आकलित किया है —

> सा रोदनारोषितरक्तदृष्टि सतापसक्षोभित गात्रयष्टि ।
> पपात शीर्णाकुलहारयष्टि फलातिभारादिव चूतयष्टि ॥
> सा पद्मराग वसन वसाना पद्मानना पद्मदलायताक्षी ।
> पद्मा विपद्मा पतितेव लक्ष्मी शुशोष पद्मस्रगिवातपेन ॥

× × ×

> सा सुन्दरी श्वासचलोदरी हि वज्राग्निसभिन्नदरीगुहेव ।
> शोकाग्निनान्तर्हृदि दह्यमाना विभ्रान्तचित्तेव तदा बभूव ॥
> रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ ।
> चकार रोष विचकार माल्य चकर्त वक्त्र विचकर्ष वस्त्रम् ॥

काव्य के अन्तिम सर्ग के दो पद्यो म सुन्दरी के अवदात चरित्र एव त्यागमय जीवन की झाकी मिलती है। भगवान् बुद्ध स्वय कहते हैं —

> ध्रुव हि सश्रुत्य तव स्थिर मनो निवृत्तनानाविषयैर्मनोरथैः ।
> वधूर्गृहे सापि तवानुकुर्वती करिष्यते स्त्रीषु विरागिणी कथा ॥
> त्वयि परमधृतौ निविष्टतत्त्वे भवनगता न हि रस्यते ध्रुव सा ॥
> मनसि शमदमात्मके विविक्ते मतिरिव कामसुखै परीक्षकस्य ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि अश्वघोष न अपने काव्य मे अपूर्व एव अलौकिक चरित्रो की सृष्टि कर महदुद्देश्य एव मानवतावादी उदात्त जीवन मूल्यो तथा सस्कृति क विराट वैशद्य की प्रतिष्ठा की है।

रचना शिल्प एव अभिव्यञ्जना की दृष्टि स सौन्दरनन्द कलात्मक एव उत्कृष्ट है। भाव-प्रवण अनुभूति तथा कलात्मक अभिव्यक्ति के समवेत रूप मे ही काव्यसौन्दर्य उपहित होता है। कवि अपनी सवदना तथा कल्पना क

कवि ने भाषा को वर्ण योजना कौशल से सगीतात्मक बनाने का अपूर्व प्रयास किया है। इस प्रकार के प्रयास मे सबसे अधिक सहायता ध्वन्यात्मक एव नादात्मक शब्दो द्वारा उपलब्ध हुई है। नादात्मक वर्ण सयोजना का कलात्मक रूप उपस्थित कर कवि ने अर्थ सौरस्य-सिद्धि की अपूर्वता प्राप्त की है।

दरीचरीणामतिसुन्दरीणा मनोहरश्रोणिकुचोदरीणाम्।
वृन्दानि रेजुर्दिशि किन्नरीणा पुष्पोत्कचानामिव वल्लरीणाम्॥
हारान्मणीनुत्तमकुण्डलानि केयूरवर्याण्यथ नूपुराणि।
एवविधान्याभरणानि यत्र स्वर्गानुरूपाणि फलन्ति वृक्षा॥
वैडूर्यनालानि च काञ्चनानि।
पद्मानि वज्राङ्कुरकेसराणि॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की सरसता एव भावो की अभिव्यजना की दृष्टि से कवि ने *अपूर्व कलात्मक प्रयोगो का उपनिबन्धन किया है।*

भावो को प्रेषणीय एव व्यञ्जनापूर्ण बनाने के लिये कवि ने उपमा तथा रूपक का अन्यतम प्रयोग किया है। सूक्ष्म अनुभूतियो तथा कोमल भावो के विविध सकेतो तथा व्यञ्जनाओ की आस्वाद्यता मे कवि की मौक्तिक एव औचित्यपूर्ण उपमाएँ अतीव रमणीय एव आकर्षक प्रतीत होती हैं। अपने अन्त करण की अनन्त वैचित्र्यशील एव अनिर्वचनीय रसानुभूति को दूसरो के हृदय मे सक्रमित कर देने के लिये तथा अभिव्यक्ति की परिपूर्णता के लिये कवि ने सादृश्य सौन्दर्य से समुपेत सालकार काव्य भाषा की योजना की है। अश्वघोष के काव्य मे उपमाओ के जो प्रयोग मिलते हैं वे उनकी असाधारण काव्यशैली के अविभक्त अग हैं। उनकी उपमाओ मे भावो की सूक्ष्मता एव अनिर्वचनीयता तथा अर्थबोध की रमणीयता रूपायित दृष्टिगत होती है।

कवि की भाषा उपमाओ से ऐश्वर्यवती हो गयी है। समग्र काव्य के अनुशीलन से स्पष्ट है कि कवि ने अपनी सम्पूर्ण रसानुभूतियों को उपमा की व्यजना द्वारा अनन्त व्याप्ति देने का प्रयास किया है।

काव्यानुभूति के आस्वादन तथा अन्तर्निहित सूक्ष्म भावो के सप्रेषण मे कवि की उपमाओ का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उनकी उपमाओ मे न केवल सूक्ष्म एव विविधविध अन्तवृत्तियाँ ही साकार हुई हैं अपितु विश्व-सृष्टि एव मनुष्य तथा प्रकृति की घनिष्ठ अन्तरगता भी विद्यमान है। सौन्दर्य पुलकित प्रकृति की समग्र रूपचेतना एव भावभगिमा की शोभातिशयिता को अश्वघोष ने उपमाओं के माध्यम व्यक्त किया है। सौन्दर्यबोध तथा प्रेम-तीव्रता की

अद्वयता को व्यक्त करने के लिये भावोत्कर्ष तथा प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप उपमा की योजना यहाँ द्रष्टव्य है :—

ता सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्द सा वा निषेवेत न त नतभ्रू ।
द्वन्द्व ध्रुव तद्विकल न शोभेतान्यान्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ ॥

कवि ने रूप सौन्दय, गुणोत्कर्ष तथा भावतीव्रता की व्यजना के लिये रात्रि और चन्द्रमा का उपमान-सयोजन किया है। रात्रि और चन्द्रमा मे अद्वैत प्रतिपत्ति होती है। चन्द्रमा की रजत ज्योत्स्ना से रात्रि प्रभापुलकित एव आनन्द सचेतित होती है तथा चन्द्रमा भी रात्रि से ही ऐश्वर्यवान एव चमत्कृत होता है। सौन्दर्य की प्रतिमा सुन्दरी नन्द के बिना आभासित नही होती तथा नन्द भी सुन्दरी के अभाव मे अपनी आनन्द चेतना का प्रसार नही कर पाता। सादृश्य की अपेक्षा व्यजना का चमत्कार यहाँ लक्षणीय है।

सुन्दरी के अनवद्य सौन्दर्य के निरूपण मे कवि ने प्रभावव्यजक उपमा की नियोजना की है —

तस्या मुख तत्सतमालपत्र ताम्राधरोष्ठ चिकुरायताक्षम् ।
रक्ताधिकाग्र पतितद्विरेफ सशैवल पद्ममिवाबभासे ॥

ताम्रवर्णी अधरोष्ठ तथा दीर्घायत चपल आँखो से युक्त तमालपत्राकित सुन्दरी का सौन्दयप्राण मुख शैवल अनुविद्ध उस सरसिज के समान शोभित हुआ जिसके रक्तिम अग्रभाग पर मकरन्द लोलुप भौंरे समासीन हों। कवि नियोजित यह चित्र अतीव आकर्षक है।

कवि की सौन्दर्याभिनिवेशी दृष्टि अत्यन्त भाव प्रवण एव कल्पनानुरजित है। मुख सौन्दर्य के चित्रण मे यहाँ रूप एव प्रभावसाम्य की यौक्तिकता प्रभावक एव सवेद्य हो गयी है।

रूप-सौन्दर्य की उत्कृष्टता को अधिक प्रभावपूर्ण रीति से अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने साम्यमूलक उपमा की प्रसगानुकूल योजना की है। उपमा के प्रयोग म सामान्यतया औचित्य का सवत्र निर्वाह किया गया है। पल्लवराग से अनुरजित हथेली पर विन्यस्त पद्मतुल्य सुन्दरी का मुख जल मे प्रतिबिम्बित कमल के प्रतिबिम्ब के ऊपर विनमित कमल के समान शोभित हुआ।

तस्या मुख पद्मसपत्नभूत पाणौ स्थित पल्लवरागताम्रे ।
छायामयस्याम्भसि पकजस्य बभौ नत पद्ममिवोपरिष्टात् ॥

सुन्दरी के रूप सौन्दर्य का यह चित्रण विरहकालीन अवस्था की अभिव्यक्ति म अतीव सक्षम है। रूप सौन्दर्य चित्रण के माध्यम कवि न सुन्दरी की

उपमा प्रयोग अश्वघोष की स्वाभाविक रचना प्रक्रिया तथा प्रकृत वचोभगिमा है। बाह्य-जगत् के समस्त रूप, दृश्य एव सौन्दय एक साथ कवि के अन्तः प्रदश मे समेकित रहते हैं और ऐसा लगता है कि कवि 'इव' 'एव' तथा 'एव' के बिना उसका व्यक्तीकरण कर ही नहीं पाता। उपमा-प्रयोग मे सवत्र कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य लक्षित होता है। उपमा का यह प्रयोग नैपुण्य तब और आकर्षक एव स्पृह्य प्रतीत होता है जब कवि अनुभूति के सम-धरातल पर पाठक की अन्तश्चेतना मे आस्वाद्य होता है।

अश्वघोष की प्रत्येक काव्य-पंक्ति उपमा के सौन्दर्य से सवलित एव ज्योतिष्मती है। कोई ऐसी पंक्ति नही है जिसमे अनुभूति की सूक्ष्मता, भावों की गम्भीरता, कल्पना की विपुलता एव विचित्रता न हो।

अश्वघोष ने उपमा के पश्चात् रूपक का भव्य निर्वाह किया है। उपमा और रूपक मे वस्तुतः न्यूनाश भेद है क्योकि उपमा मे विहित प्रस्तुत अप्रस्तु का भेद जब साहृश्य प्रदर्शन के लिये तिरोहित कर दिया जाता है तब उपमा ही रूपक की सज्ञा ग्रहण कर लेती है। उपमान के साथ उपमेय की एकरूपता तथा एकत्व प्रतीति हो रूपक है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने उपमा को अलंकारो का शिरोरत्न तथा काव्य-सम्पदा का सर्वस्व कहा है किन्तु पाश्चात्य मनीषियो ने रूपक को अन्य अलंकारो की अपेक्षा विशिष्ट एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया है।

वाल्टर रेले की दृष्टि में रूपक अत्यन्त उत्कृष्ट अलंकार है। उन्होने लिखा है कि वैधर्म्य मे साधर्म्य और साधर्म्य मे वैधर्म्य के अन्वेषण में कवि-प्रतिभा को परमानन्द की उपलब्धि होती है और साहित्य की अभिव्यक्ति उस अन्वेषण की एक प्रक्रिया मात्र है। एतदर्थ साहित्यकार को अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है।

रूपक का प्रयोग भावनाओं के विशदीकरण के लिये तथा प्रतिपाद्य वस्तु को प्रभावक बनाने के लिये किया जाता है। रूपक एक सौन्दर्यवर्धक अलकार है, साथ ही साहित्य शैली को नवीन भगिमा से अनुरञ्जित करने का एक शिल्पित प्रकार भी है। यथार्थ रूपक का समुचित विनिवेशन अलकरण की भाँति बाह्य एवं भिन्न नहीं है अपितु रूपक तो प्रायश- भावानुभूति के सम्प्रेषण का अनन्य एव अप्रतिम साधन है।

रूपक काव्य का जीवन, कवि प्रतिभा का प्रतीक तथा मेधा की परिणत दशा का भव्योन्मेष है। मर्म मुखर भावानुभूतियो की अत्यन्त सश्लिष्ट एव मौलिक अभिव्यक्ति के लिये जब यथार्थ विशेषणो का प्रयोग अभीष्ट होता है

तब रूपक की अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है। वस्तुतः प्रत्येक काव्यमयी प्रतिभा कुछ सीमा तक रूपकात्मक हुआ करती है।

महाकवि अश्वघोष ने भी भावोत्कर्ष एवं भावोन्मेष की सश्लिष्ट अभिव्यक्ति के लिये अभिव्यक्ति सक्षम रूपकों का विशद विनियोग किया है। सुन्दरी के अनवद्य सौन्दर्य के रूपांकन में कवि ने सांगरूपक की भव्य योजना की है—

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन सा पद्मिनी नन्ददिवाकरेण॥

उपर्युक्त पद्य में वाच्यार्थधारिणी अभिधा शक्ति अलोक सामान्य अर्थ व्यक्ति में हततेज दृष्टिगत होती है। सांगरूपक के भव्य विनियोग से यहाँ ध्वन्यर्थ की अभिव्यञ्जना आधिक चारुतर रूप में प्रत्याय्य है। 'हासहंसा' शब्द से कवि ने अहर्निश अधरों पर हंस के समान मुस्कान माधुरी की शुभ्रता, 'नयनद्विरेफा' शब्द से नेत्रों की कज्जलता, 'पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा' शब्द से वक्षोजों की पीनता तथा मुग्धा नवयौवना एवं अन्त. प्रेमपूरिता की अशेष शोभातिशयिता तथा 'नन्ददिवाकरेण' शब्द से एकनिष्ठप्रेम तीव्रता की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। कवि की विचक्षण कल्पना भी यहाँ दर्शनीय है। पद्मिनी के शोभा सवलित शुभ्र मुखमण्डल पर नयनरूप द्विरेफ अधिक स्पृह्य प्रतीत होते हैं। 'द्विरेफ' शब्द से सुन्दरी के आयताकार नेत्रों की प्रतीति भी यहाँ अलौकिक है।

शब्दों के व्यञ्जना व्यापार एवं रूपकात्मक विनियोग से कवि ने यहाँ सुन्दरी की रूपोत्कृष्टता, कायिक अभिनिवेश तथा एकात्म अद्वैत प्रेम की अनन्यता का भव्य रूपायन किया है। रूपक के विनियोग से यहाँ अर्थ की ध्वन्यात्मकता, चित्रमयता तथा सश्लिष्ट सौन्दर्य की एकरूपता का एकस्थानीय शालीन समीकरण प्रस्तुत कर कवि ने अपूर्वकलाप्रज्ञा का परिचय दिया है।

महाकवि अश्वघोष न भावना-प्रधान एवं चिन्तन-प्रधान रूपकों की योजना की है। दार्शनिक एवं बौद्धिक चिन्तनधारा की उद्बुद्ध चेतना जहाँ रूपायित हुई है वहाँ विचार सहिति पूर्णत. स्पष्ट हो गयी है। धर्मचक्र की वर्णना में उन्होंने लिखा है.—

अथ धर्मचक्रमृतनाभि धृतिमतिसमाधिनेमिमत्।
तत्र विनयनियमारमृषिर्जगतो हिताय परिषद्यवर्तयेत्॥

उपर्युक्त धर्मचक्र के रूपक विनियोग में महाकवि ने समस्त सांस्कृतिक परिवेश को रूपायित कर एवं योगावाप्ति के उपकरणों का निर्देश कर अवाप्य

की महत्ता का अन्वाख्यान किया है। यह धर्मचक्र सत्यरूप नाभि, धृति, मति तथा समाधि रूप नेमि तथा विनय एवं नियम रूप कीलक से अनुस्यूत है। निर्वाण की अवाप्ति के लिए व्रत आचरण विनय, नियम धैर्य, सम्यक् मति, ज्ञान एवं समाधि की अपरिहार्यता है। समाधि के बिना निर्विशेषचित्तवृत्तिता सम्भाव्य नहीं है तथा ज्ञान के बिना संसार की निस्सारता को अभिज्ञा नहीं हो पाती।

यह रूपक दार्शनिक चिन्तन का अप्रतिम निदर्शन है। कवि ने अपनी जीवन-साधना की प्रकृतरूपता को व्यक्त कर अपनी दार्शनिक-मनीषा का अथर्गभित निरूपण किया है।

कवि संसार की निस्सारता दोषपूर्णता तथा भीषणता के प्रति पूर्णतः अत्यवहित है। तथागत ने जिस संसार सागर का सन्तरण किया था उसको स्थापित करते हुए कवि ने सांग रूपक का भव्य निर्वाह किया है —

> स दोषसागरमगाधमुपधिजलमाधिजन्तुकम्।
> क्रोधमदभयतरङ्गचलं प्रततार लोकमपि च व्यतारयत्॥

तथागत ने जिस दोष सागर का सन्तरण किया वह छल कपट रूप जल, आधि-रूप जन्तु, क्रोध, मद एवं भयरूप तरंग से अन्वित है। प्रस्तुत रूपकात्मक अभिव्यक्ति से यहाँ यह ध्वनित है कि मनुष्य इस अगाध दोष सागर का तब तक अतिक्रमण नहीं कर सकता जब तक वह छल-कपट मानसिक वितर्क तथा क्रोध मद एवं भय का व्यपोहन न कर दे।

उपर्युक्त रूपक में कवि ने संसार सागर के सन्तरण के लिये साधक को उपयकित वृत्तियों के प्रहाण के लिये अवबोधित किया है। रूपक-विनियोग में कवि ने समस्त पदविन्यास के माध्यम दोष सागर की अगाधता को भी व्यक्त कर दिया है।

विरह विगलित नन्द की वियोगावस्था का चित्र अंकित करते हुए कवि ने बड़ा ही भावात्मक रूपक प्रस्तुत किया है—

> स तत्र भार्यारणिसम्भवेन वितर्कधूमेन तमःशिखेन।
> कामाग्निनान्तर्हृदि दह्यमानो विहाय धैर्य विललाप तत्तत्॥

नन्द के अन्तःप्रदेश में कामाग्नि प्रज्ज्वलित है। वह कामाग्नि भार्यारूपी अरणि से समुत, वितर्कधूम से अनुस्यूत तथा तम शिखा से अन्वित है। उसके दह्यमान हृदय में स्थैर्य एवं धैर्य नहीं है, अतः विलपनशील है। 'वितर्कधूमेन' शब्द से कवि ने यहाँ नन्द की ऊहापोहात्मिका चित्तवृत्ति का, तथा 'तम

दिखेन' शब्द से नैराश्यपूर्ण जीवन की विषण्णता एवं शोक तीव्रता का भावात्मक एवं जीवन्त चित्रण किया है ।

उपमानों की सम्बद्धता में यहाँ नन्द की वियोग-स्मृति की विकलता तथा भावोद्वेग के आतिशय्य की प्रतीति होती है । भावपक्ष की सशक्तता तथा कलापक्ष की शक्तिमत्ता से यहाँ नन्द की विरहजन्य मनोदशा का संश्लिष्ट चित्र भावोन्मेष की अजस्रता से परिपूर्ण हो गया है ।

कवि ने कामसर्प से दंशित नन्द की मनोदशा का चित्र अंकित करते हुए एक और रूपक की योजना की है जिसमें भाव संवेदन एवं मार्मिकता अपेक्षाकृत अधिक है —

अनर्थभोगेन विघातदृष्टिना प्रमाददंष्ट्रेण तमोविषाग्निना ।
अहं हि दष्टो हृदि मन्मथाहिना विधत्स्व तस्मादगदं महाभिषक् ॥

कामरूपी सर्प ने, अनर्थ ही जिसका भोग है, विघात ही जिसकी दृष्टि है, प्रमाद ही जिसकी दंष्ट्रा है तथा तम ही जिसका तीक्ष्ण विष है, मैं हृदय में दंशित हुआ हूँ हे महाभिषक् ! अतः मुझे विषविनाशक औषधि प्रदान कीजिये ।

प्रस्तुत सांगरूपक में कवि ने काम के लिये सर्प का उपमान नियोजित किया है जिससे उसकी भीषणता एवं विनाशकता ध्वनित हो गयी है । काम-सर्प से दष्ट कोई मनुष्य स्थिर नहीं रह पाता, वह मोहमूर्छित हो सक्षोण हो जाता है ।

महाकवि अश्वघोष ने क्लेशशत्रुओं के विघात के लिये युद्ध का रूपक प्रस्तुत किया है, ऐसी प्रतीति होती है मानो कवि युद्ध की समस्त विद्याओं की बहुज्ञता से अन्वित है । युद्धरूपक में युद्ध के समस्त उपकरणों के लिये कवि ने मूर्त एवं अमूर्त उपमानों की उदात्त योजना की है —

सज्ज्ञानचापः स्मृतिवर्मबद्धो विशुद्धशीलव्रतवाहनस्थः ।
क्लेशारिभिश्चित्तरणाजिरस्थैः सार्धं युयुत्सुर्विजयाय तस्थौ ॥
ततः स बोध्यङ्गशिताप्तशस्त्रः सम्यक्प्रधानोत्तमवाहनस्थः ।
मार्गाङ्गमातङ्गवता बलेन शनैः शनैः क्लेशचमूं जगाहे ॥
स स्मृत्युपस्थानमयैः पृषत्कैः शत्रून्विपर्यासमयान् क्षणेन ।
दुःखस्य हेतूंश्चतुरश्चतुर्भिः स्वैः स्वैः प्रचारायतनैर्ददार ॥
आर्यैर्बलैः पञ्चभिरेव पञ्च चेतः खिलान्यप्रतिमैर्बभञ्ज ।
मिथ्याङ्गनागांश्च तथाङ्गनागैर्विनिर्दुधावाष्टभिरेव सोऽष्टौ ॥

उपर्युक्त सांगरूपक कवि के युद्धविषयक ज्ञान का अवबोधक है । आध्यात्मिक चेतना से अनुस्यूत नन्द को यहाँ कवि ने एक योद्धा के रूप में अंकित किया है जिसमें अव्यवहित जागरूकता, अनुवर्तिता एवं स्वच्छन्द ओजस्विता है ।

यहाँ वर्णन की सश्लिष्टता एवं सुसंघटित समासबहुल वर्ण-योजना की महाप्राणता से कवि के काव्यशिल्प की नूतनता एवं विशदता पूर्णतः स्पष्ट हो गयी है। उपनिबद्ध रूपक से मात्र युद्ध-दृश्य ही रूपायित नहीं होता अपितु वीररस की अप्रतिम ध्वनि भी अनुभाव्य हो गयी है।

आध्यात्मिक योद्धा नन्द लोभरूपी धनुष तथा सकल्प रूपी तीरवाले, राग नामक महाशत्रु को योगायुधों से विदीर्ण करने के लिये उद्यत है—

> स लोभचापं परिकल्पबाणं रागं महावैरिणमल्पशेषं
> कायस्वभावाधिगतैर्बिभेद योगायुधास्त्रैरशुभानुपूर्वैः।
> द्वेषायुधं क्रोधविकीर्णबाणं व्यापादमन्तः प्रबलं सपत्नम्
> मैत्रीपृषत्कैर्धृतितूणसस्थैः क्षमाधनुर्ज्याविसृतैर्जघान॥

उपर्युक्त रूपक में कवि ने अलौकिक प्रज्ञा से आध्यात्मिक योद्धा नन्द के स्वरूप का प्रत्यङ्कन वीर महारथी के रूप में किया है जो अपनी अवाप्ति के लिये पूर्णत. अस्त्रवहित एवं जागरूक है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अश्वघोष ने अपनी प्रतिभा और काव्य मेधा के बल पर उपमा और रूपकों के द्वारा अपनी जीवन्त अनुभूतियों तथा दार्शनिक विचारों को मूर्तिमान कर दिया है जिसमें भावपक्ष और कलापक्ष पूर्णतया सयोजित तथा अविच्छिन्न हो गये हैं।

कवि की काव्यसृष्टि आत्मिक प्रेरणा के अनुरूप होती है। विशुद्ध धार्मिक भावना से अनुस्यूत कवि का यह काव्य आप्राण आध्यात्मिक भावना से अनुप्राणित है। वीतराग तथा आत्मलीन कवि ने अपनी सात्विकता तथा उदात्त जीवन की लोकमांगलिक साधना से जन-जीवन को आप्यायित करने के लिये ही दर्शन को काव्य के माध्यम से व्यक्त किया है। *चिन्तनप्रधान दार्शनिक विचारों के प्रतिनिधान से कविता की स्वाभाविकता, मार्मिकता तथा भाव सवेदना का प्रवाह व्याहत नहीं हुआ है। दार्शनिक विचार-निबन्धना से महा*कवि का यह काव्य महाकाव्योचित औदात्य तथा आध्यात्मिक-सौष्ठव से समाहित हो गया है। गम्भीरतम भाव-प्रक्रिया के निरूपण में कवि की जितनी तल्लीनता है आध्यात्मिक विचार-मणियों के सग्रथन में उतनी ही आत्मलीनता भी।

अश्वघोष का युग प्रमुखत. नवीन सांस्कृतिक परिवर्त का युग था, अतः इस युग के काव्योत्कर्ष को काव्य और दर्शन की एकात्मता में देखा जा सकता है। कवि का युग मन्त्रों एवं तन्त्रों से षड्यन्त्रित तथा तर्कों एवं वादों में विशीर्ण

था। बौद्धिक चेतना का महाह्रास हो रहा था, अत युगसंस्कृति के नवोत्थान के लिये सांस्कृतिक उत्थान के प्रतिनिधि कवि की अपेक्षा थी।

युग को नवीन सांस्कृतिक परिवेश मे अभिमण्डित करने के लिये तथा जरा-मरण के निश्चरित्र तम को निराकृत कर भव-कटुनिवारण के लिये कवि ने काव्य-दर्शन की अभिनव सृष्टि की है। तथागत के काल मे जो लोक-परिस्थिति निष्क्रिय हो चुकी थी तथा तार्किकता एवं अर्थ-रहित धार्मिकता के सिद्धान्तो से विजटित एक सांस्कृतिक वृत्त पूर्ण होकर अधोमुखी गति में प्रसार पा रहा था उसे महाकवि ने व्याहृत कर निश्चेतन भू-मन को नवीन चेतना दी।

अश्वघोष का बौद्धिक चिन्तन भावना के धरातल पर उपबृंहित होता गया है और दार्शनिकता अन्तत. तथागत की आध्यात्मिकता मे पर्यवसित हो गयी है। उनके काव्य मे जहाँ भावनाओ का तीव्रतम आवेग है वहाँ दूसरी ओर चिन्तनपूर्ण असामान्य गहन दार्शनिक प्रतिपत्ति भी, किन्तु कवि की विशेषता दोनों के सुन्दर समीकरण एव समन्वय मे है। अश्वघोष के काव्य ने दर्शन को मधुरिमा तथा स्निग्धता प्रदान की है और दर्शन ने काव्य को औदात्य प्रदान किया है।

यह तो पूर्णतः स्पष्ट है कि अश्वघोष के काव्य मे बौद्ध-दर्शन की उदात्त भावना और यथार्थवादी दृष्टिकोण का विश्लेषण हुआ है। संसार की असारता, क्षणभंगुरता एवं विषयोपभोग की निस्सारता से अन्तर्भावित कवि की अन्तश्चेतना बुद्ध-प्रतिपादित निर्वाण के अधिगम के लिये उत्प्रेरित है। नन्द तथा सुन्दरी की कथा के द्वारा कवि ने बौद्ध-दर्शन की समस्त प्रतिपत्तियो का विवेचन किया है।

यौवन के उद्दाम-परिवेश मे आपन्न मनुष्य की चेतना कामात्मक भोगो मे विघटित होती रहती है, कभी सन्तोष एव स्थैर्य की प्राप्ति नही होती क्योंकि पवनेरित-अग्नि के समान काम-भावनाएं सर्वदा उद्दीपित होती रहती हैं। कामनाओं की प्रार्थना दु खकारक है, विषयो की तृष्णा अशान्तिकर है। यही कारण है कि अश्वघोष ने कामोपभोग की सर्वत्र विगर्हणा की है।

आध्यात्मिक चेतना को ऊर्ध्वगामिता के लिये विवेक एव यथार्थज्ञान की परमापेक्षा है। संसार विषयोपभोग, कामराग और अशेष तृष्णा तथा नियतशोक दुःख का पर्याय हैं, अतः इसके यथार्थज्ञान एव सम्यक् विवेक के बिना निःश्रेयस् निर्वाण की अवाप्ति सभव नही। विवेक और श्रद्धा से मनुष्य यथार्थजीवन की उदात्त चेतना को अधिगत कर सकता है। आत्मचिन्तन और तत्त्वचिन्तन जैसे

गहन विषयो मे श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिव्यगुणों की प्राप्ति एव करणीय कर्मयुक्तता के लिये श्रद्धा ही कारण है। श्रद्धासमन्वित व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करता है, श्रद्धा के अभाव मे मनुष्य कर्मनिरत नही होता। श्रद्धा सभी कर्मों की मूलोत्पादिका है।

आस्तिक दर्शनो मे श्रद्धा को धर्म एवं योग का प्रधान अग माना गया है। श्रद्धा मन.प्रसाद है, चित्त की प्रसादिकता है। पातजल योगदर्शन मे योगसिद्धि के साधनो मे श्रद्धा की परिगणना सर्वप्रथम की गयी है। महाकवि अश्वघोष ने लिखा है कि श्रद्धा सद्धर्म को ग्रहण करती है जैसे हाथ दान ग्रहण करता है। श्रेय का निमित्त होने के कारण बीज और पाप को पवित्र करने के कारण यह श्रद्धा तीर्थरूप है। श्रद्धा के सवर्द्धन से सद्धर्म उसी प्रकार सवर्धित होता है जिस प्रकार मूल की वृद्धि से वृक्ष :—

श्रद्धाङ्कुरमिमं तस्मात् संवर्धयितुमर्हसि।
तद्वृद्धौ वर्धते धर्मो मूलवृद्धौ यथा द्रुम॰॥

अश्वघोष ने विश्वासातिशय की अभिव्यक्त करनेवाली भावना के रूप मे भी श्रद्धा का व्यवहार किया है। श्रद्धा हृदय की शुचिता एव आस्तिक्य बुद्धि है—

अन्तर्भूमिगत ह्यम्भ श्रद्दधाति नरो यदा।
अर्थित्वे सति यत्नेन तदा खनति गामिमाम्॥

आध्यात्मिक योग एव साधना के लिये अश्वघोष ने शील और इन्द्रिय संयम का सुन्दर निरूपण किया है। ससार मे उत्पन्न होकर मनुष्य को सासारिक धर्मों से लिप्त नहीं होना चाहिये। पद्मपर्ण जैसे जल मे उत्पन्न होकर भी जलोपलिप्त नहीं होता वैसे ही मनुष्य को सासारिक कामानुशयो से लिप्त नही होना चाहिये। रजोत्पन्न स्वर्ण विशुद्ध एव निर्मल होने के कारण पासुदोष से आबद्ध नहीं होता, उसी प्रकार आध्यात्मिक ऊर्जस्विता के लिये धर्मलिप्तता श्रेयष्कर नहीं है।

शील और इन्द्रिय-सवर के बिना तृष्णा एवं दु ख का प्रहाण सभव नहीं है, अत श्रद्धेन्द्रियपुरःसर होकर शुद्ध आचरण अपरिहार्य है। शील को अश्वघोष ने मानसिक पीडा का अभावोपनिषद् कहा है तथा इसकी प्रधानता का वर्णन कर इसकी शुद्धता की अपरिहार्यता बतायी है। शील ही शरण है, पथ-प्रदर्शक, धन तथा मित्र है। यह शील मोक्ष के लिये प्रयत्नशील योगियो का अनन्य सहायक है —

शील हि शरणं सौम्य कान्तार इव दैशिकः।
मित्रं बन्धुश्च रक्षा च धनं च बलमेव च॥

यतः शीलमतः सौम्य शील संस्कर्तुमर्हसि ।
एतत्स्थानमथान्ये च मोक्षारम्भेषु योगिनाम् ॥

शील तथा इन्द्रिय-संयम के प्रसंग में अश्वघोष ने बुद्ध-प्रवेदित अष्टांगिक मार्ग का सम्यक् विवेचन किया है। अष्टांगिक मार्ग पर आरूढ़ मनुष्य दुःखों के प्रहाण में सक्षम हो सकता है, इसके बिना कायक्लेश विमुक्ति असंभाव्य है। कार्यों की अवधानता के लिये कवि ने स्मृति की महत्ता तथा उसकी अपरिहार्यता का विशेषरूप वर्णन किया है। जिसकी स्मृति विप्रलुप्त है उसका अमृततत्त्व विनष्ट हो जाता है और जिसकी कायगता स्मृति है उसी के हाथ अमृत है। आदि प्रस्थान सर्ग में कवि ने स्मृति का सम्यक् निरूपण कर इसकी अपेक्षता का निर्देश किया है।

योगसिद्धि के लिये वितर्कों एवं प्रतिपक्ष भावनाओं का प्रहाण आवश्यक है। मैत्री, करुणा एवं लोकमांगलिक भावनाओं से ही मानसिक शान्ति एवं चित्त-निर्मलता की प्राप्ति हो सकती है। अकुशल वितर्कों के उत्पन्न होने से उत्पन्न तत्त्वज्ञान तिरोहित हो जाता है अतः योगाचारी व्यक्ति को दोष व्यवहित चित्त को विशोधित कर अपने मन को शान्त करना चाहिये।

अश्वघोष ने निर्वाण की प्राप्ति के लिये योग को आवश्यक बताया है। योग आध्यात्मिक आत्मचेतना की दिव्य एवं चिदात्मक दिव्य चेतना के साथ एकान्त व्यक्तिव्यक्ति है। मानसिक प्रत्ययों एवं मनोवृत्तियों के ऊहापोह का एकान्त प्रशमन योग है। योग की परमोदात्त प्रक्रिया में पतञ्जलि ने अष्टांग योग का निरूपण किया है। अश्वघोष ने भी त्रयोदश सर्ग में यम-नियमादि तथा इन्द्रिय संयम का अव्यवहित विवेचन किया है तथा शील को परमशरण कहा है। योग के लिये उत्तम आसन की अपेक्षा होती है, इसके बिना कायिक अवधानता संभव नहीं। प्राणायाम की विवेचना न कर अश्वघोष ने यह निर्देश किया है कि मनुष्यों के प्रश्वासाकर्षण तथा उच्छ्वास परित्यजन को अव्यवहित ही जानो। पुनः उन्होंने आनापान—स्मृति को वशीभूत करने की देशना दी है। सर्वेन्द्रियों के संयमन के बिना योगसाधना संभव नहीं है, अतः उनका प्रत्याहार अनिवार्य है। अश्वघोष ने अपने मन का अपने में संहरण को प्रत्याहार कहा है तथा आत्मवान होकर की गयी मनोधारणा को धारणा कहा है। सौन्दरनन्द में चतुर्विध ध्यानों का सविशेष वर्णन उपलब्ध होता है। समाधि का अन्वाख्यान करते हुए कवि ने लिखा है कि समाधि क्लेशों का विष्कम्भन करती है तथा समाधिस्थ योगियों के ऊपर मन्त्रबद्ध सर्पों की भाँति दोष आक्रमण नहीं करते।

सौन्दरनन्द में योगाभ्यास के लिये काल और उपाय के परीक्षण का सम्यक् निर्देश किया गया है क्योंकि असमय और अनुचित प्रयत्नों से किया

गया योगाभ्यास अनर्थ सिद्धि का कारण होता है। जिस प्रकार अग्नि का अभिलाषी मनुष्य जैसे आर्द्रकाष्ठ से प्रयत्न करके भी अग्नि की प्राप्ति नहीं कर पाता तद्वत् अनुचित प्रयत्नो के माध्यम से योगाधिगम असम्भाव्य है। अतएव देश, काल तथा योग की मात्रा एवं उपाय का सम्यक् परीक्षण करके एवं अपने में बलाबल का संप्रधान करके योगाभ्यास मे प्रयत्नशील होना चाहिये :—

क्लेशप्रहाणाय च निश्चितेन कालोऽभ्युपायश्च परीक्षितव्यः।
योगोऽप्यकाले ह्यनुपायतश्च भवत्यनर्थाय न तद्गुणाय॥
आर्द्रञ्च काष्ठाज्वलनाभिकामो नैव प्रयत्नादपि वह्निमृच्छेत्।
काष्ठाच्च शुष्कादपि पातनेन नैवाग्निमाप्नोत्यनुपायपूर्वम्॥
तद्देशकालौ विधिवत्परीक्ष्य योगस्य मात्रामपि चाभ्युपायम्।
बलाबले चात्मनि संप्रधार्य कार्यः प्रयत्नो न तु तद्विरुद्धः॥

महाकवि अश्वघोष ने अपने इस महनीय काव्य मे चतु. आर्य-सत्यो तथा शील, समाधि एवं प्रज्ञा का उदात्त वर्णन कर निर्वाण की अलौकिक मीमासा की है।

निर्वाण सम्पूर्ण चित्तवृत्तियो का आत्यन्तिक निरोध है। निर्वाण चेतोविमुक्ति एव विगत तृष्ण जीवन की परम शान्तिमयता है। यह सर्वमल विरहित एव *अत्यन्त परिशुद्ध है। यह शान्तिपूर्ण, शिवात्मक एव वैराग्यपूर्ण तथा कल्याणा*-भिनिवेशी परमनैष्ठिक अच्युत पद है जिसकी अवाप्ति के पश्चात् क्लेश स्वयं विष्कम्भित हो जाते हैं। निर्वाण की मीमासा करते हुए महाकवि अश्वघोष ने लिखा है कि निर्वापित दीप न तो पृथ्वी मे जाता है, न अन्तरिक्ष मे, न किसी दिशा मे, न किसी विदिशा मे प्रत्युत स्नेह के क्षय होने के कारण शान्ति को प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार परम तत्त्वज्ञ व्यक्ति कही नहीं जाता अपितु क्लेशों के विष्कम्भित होने पर परमशान्ति को प्राप्त कर लेता है :—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं नकाञ्चिद् विदिशं नकाञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतोनैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

निर्वाण प्राप्त पुरुष के लिये यद्यपि किञ्चित् करणीय नहीं है तथापि विश्व की मांगलिक चेतना के उन्नयन के लिये तथा नैतिकता से उपरत मनुष्य को अन्तश्चेतना में चेतन-पावक-कण भरने के लिये कर्म करने की अपरिहार्यता है। भाव-तृष्णा के तम से व्याहत एवं क्षणिक भोगों से प्रतिहत मानव-जीवन को

निर्वाण की शान्तिसुधा से सचेतित करना अवाप्तकाय योगियों का परम कर्तव्य है। भगवान् बुद्ध ने अवाप्तकार्य नन्द को उपदेश देते हुए कहा है —

अवाप्तकार्योऽसि परां गतिं गतो न तेऽस्ति किञ्चित्करणीयमण्वपि।
अतः परं सौम्य चरानुकम्पया विमोक्षयन् कृच्छ्रगतान् परानपि॥

× × × ×

इहोत्तमेभ्योऽपि मतः स तूत्तमो य उत्तमं धर्ममवाप्य नैष्ठिकम्।
अचिन्तयित्वात्मगतं परिश्रमं शमं परेभ्योऽप्युपदेष्टुमिच्छति॥
विहाय तस्मादिह कार्यमात्मनः कुरुस्थिरात्मन् परकार्यमप्यथो।
भ्रमत्सु सत्त्वेषु तमोवृतात्मसु श्रुतप्रदीपो निशि धार्यतामयम्॥

इस प्रकार महाकवि अश्वघोष ने अपने जीवन-दर्शन में लोक मांगलिक चेतना एवं मानव कल्याण की भावना की अलौकिक प्रतिष्ठा की है। कवि के इस महत्तम *काव्य में मानवतावादी मूल्यों की प्रतिष्ठा का आग्रह और मानवता* के मंगलविधान का उत्तमोत्तम प्रयास है। मानवीय जीवन-मूल्यों के प्रति कवि आस्थावान है तथा उसकी व्यापक एवं कल्याणाभिनिवेशी दृष्टि आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है।

सौन्दरनन्द का उद्देश्य आनन्द की उपलब्धि है और जीवन के महत्तम ध्येय निर्वाण की अवाप्ति ही प्रस्तुत काव्यरचना का चरम लक्ष्य है। दया, धर्म, अष्टांग-साधना एवं करुणा से प्रेरित कवि का अन्तिम लक्ष्य लोक-मंगल है। कवि ने अपने महनीय काव्य में लोक मंगल एवं शिवात्मक ज्योति में *पूर्ण निर्वाण पद की अवाप्ति का जो सन्देश प्रसारित किया है* वह सर्वकालीन और विश्वजनीन है। वस्तुतः महत्प्रेरणा और महदुद्देश्य से अनुप्राणित यह महाकाव्य मोक्षार्थ-चेतना पर अधिष्ठित वह काव्य है जिस में आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की ज्योतिष्मती भावना का उदात्तीकरण पूर्णतः विद्यमान है।

परिशिष्ट—२

अश्वघोष की सूक्तियाँ

सूक्ति का सामान्य अर्थ है सौष्ठवपूर्ण लोकातिक्रान्त कथन। लोकवाणी से अतिशय विलक्षण, प्रभावव्यञ्जक विशेष कथन ही सूक्ति है जो काल क्रम से कवि वाणी के पर्याय रूप में प्रत्यभिज्ञेय हुई। काव्य की प्रकृष्टता के प्रतिमान रूप मर्मस्पृक् सूक्तियों से ही कवियों की महीयता सिद्ध होती है। वेदमन्त्रों के विषयनिष्ठ समूह भी सूक्त कहे गये हैं, जिसका अर्थ है—वैचित्र्यपूर्ण कथन। अग्रत लोककवियों की सूक्ति के लिये भी सूक्त का प्रयोग उपलब्ध होता है।[1]

आगे चलकर सूक्ति' काव्य की परिभाषा बन गयी। काव्य के पर्याय में सूक्ति का उल्लेख राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिलता है। "अन्य कवियों ने भी सूक्ति को श्रवण से पिया जाने वाला अमृत तथा कर्ण रूपी शुक्ति का लेह्य मधु कहा है।[2]

राजशेखर ने कविवाणी को सूक्तिधेनु कहा है —

> या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
> हृदि न सन्निधत्ता सा सूक्तिधेनु सरस्वती॥

सूक्ति की विलक्षणता एवं मर्मस्पर्शिता से सम्मोहित हो कर साधक कवि ने भुवनेश्वरी स्तोत्र' में सरस्वती से नर्तनशील सूक्तियों की आकांक्षा व्यक्त की है।[3] रसनिर्भर सूक्ति की प्रकृष्टता के कारण ही कवि से काव्य नहीं सूक्ति

---

१ कवीना महता सूक्तै.
जीवित इव कण्ठगते सूक्ते दु खाविका कवेस्तावत्। —अमृतदत्त

२ कर्णामृत सूक्तिरसम्। विक्रमाङ्कदेवचरित। १। २९
स्थेयासु श्रुतिशुक्तिलेह्यमधवस्तावत्सता सूक्तय। —सुभाषितरत्नकोष।

३. मातर्देहभृतामहो धृतिमयी नादैकरेखामयी
सा त्व प्राणमयी हुताशनमयी बिन्दुप्रतिष्ठामयी।
तेन त्वा भुवनेश्वरी विजयिनीं ध्यायामि जाया विभो-
स्त्वत्कारुण्य विकाशिपुण्यमतय खेलन्तु मे सूक्तय॥
—भुवनेश्वरीस्तोत्र—५।

श्रवण का आग्रह दृष्टिगत होता है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि सूक्ति सवलित रचना ही उत्कृष्ट काव्य है। काव्यश्रमज्ञ (भावक) ही सूक्तियो से आह्लादित होता है क्योंकि वह शब्दो के कलात्मक विन्यास तथा रीति का प्रत्यभिज्ञान करता है, रसामृत का आप्यायन करता है, तात्पर्य मुद्रा का सचयन कर पृथक्-पृथक विन्यास करता है। उपर्युक्त जितने लक्षण उपन्यस्त हैं उनसे काव्य-विवेचना की परिपुष्टि होती है किन्तु काव्य से नही अपितु सूक्तियो मे आह्लादित होने की भावना उक्त है

यद्यपि काव्य का रसामृत निर्भर चित्त के लिये आस्वाद्य था किन्तु काव्य की प्रकृष्टता के प्रत्यायक अभिनव भावो से परिपूर्ण तथा अलौकिक विचारों से समुपेत उसकी सूक्तियाँ थी। इससे स्पष्ट है कि रसनिर्भर काव्य होने पर उसकी आस्वाद्यता सूक्तियो के कारण थी महाकवि बिल्हण ने काव्य में रस तथा सूक्ति दोनो की समान स्थिति का निरूपण करते हुए विचक्षणो की विचार शाणोपल-पट्टिका पर परीक्षण हेतु स्वकीय सूक्ति रत्नों के प्रस्तुतीकरण का उल्लेख किया है।[2] बिल्हण ने तो सूक्ति रस को श्रोत्र आप्यायक अमृत कहकर सूक्तिपरक काव्य की मान्यता का सर्वतोभद्र उपबृहण किया है और सूक्तियो की अप्रतिम प्रतिष्ठा की है।[3]

यह ध्यातव्य है कि ध्वनि एव रस की भाँति पूर्वतं सूक्ति ही काव्य की अ यतम कसौटी थी क्योंकि आनन्दवर्धन ने प्रबन्धो मे दृश्यमान रसभग का पृथक पृथक् निदर्शन इसलिये प्रस्तुत नहीं किया क्योंकि सहस्रो सूक्तियो से

---

१ कस्त्व भो कविरस्मि काव्यभिनवा सूक्ति सखे पठ्यता
त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया कस्मादिद श्रूयताम् ।।
य सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयो सार स्वय सत्कवि ।
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवद् दैवान्न निर्मत्सर ।।

२ कथासु ये लब्धरसा कवीना ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेपु ।
न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरति कस्तूरिकागन्धमृगास्तृणेषु ।।
उल्लेखलीलाघटनापटूना सचेतसा वैकटिकोपमानम् ।
विचारशाणोपलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्नान्यतिथीभवन्तु ।।

विक्रमाकदेवचरित—१।१७-१९

३ कर्णामृत सूक्तिरस विमुच्य दोषे प्रयत्न सुमहान् खलानाम् ।
निरीक्षते केलिवन प्रविश्य क्रमेलक कण्टकजालमेव ।।

विक्रमाकदेवचरित।१।२९।

संदृष्ट महान् कवियों का दोषोद्‌घोषण स्वकीय दूषण हो जाता है ।[1] यही कारण है कि विलक्षण अर्थबोध से अन्वित सूक्तियों के सद्‌गुम्फन की उपेक्षा ध्वनि एवं रस की महती प्रतिष्ठा के पश्चात् भी नहीं हुई ।

आचार्य कुन्तक भी सूक्ति की चमत्कारिक योजना से प्रभावित लक्षित होते हैं । उन्होंने भारती (कवि-वाणी) को कवि के मुख चन्द्ररूपी लास्य-मन्दिर मे सूक्तिविलासों की अभिनेतृ (नर्तकी) कहा है ।[2] आलोचकों एवं भावुक रसज्ञों ने कवि एवं काव्य की संस्तुति मे सूक्ति की ही शंसा की है, इसके विविध उदाहरण सुभाषित ग्रन्थों मे उपन्यस्त हैं ।[3]

---

१ तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनाम् दोषोद्‌घोषणमात्मान एव दूषण भवतीति न विभज्य दर्शितम् । —ध्वन्यालोक ३.१९।

२. वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम् ।
देवी सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ॥

३ निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ।—महाकवि बाणभट्ट
कथमिह मनुष्यजन्मा संप्रविशति सदसि विबधुगमितायाम्
येन न सुभाषितामृत ह्लादि निपीतमातृप्ते ।—चाणक्य
पातु कर्णरसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता
व्युत्पत्ति परमामवाप्नुमवधिं लब्धुं रसस्रोतस ।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीविततरो यद्यस्ति ते कौतुकम्
तद्‌भ्रातः ! शृणु राजशेखरकवेसूक्ती. सुधास्यन्दिनीः ।—शंकर वर्मा
वक्तार एव कवय सूक्तानि महार्घता नयत्यन्ये ।
प्रभवः पयोधिरूपचितिरीश्वरभवनेषु रत्नानाम् ।—वल्लभ देवे
सन्त्येव सूक्तिरसिका बहवो मनुष्याः
स्वर्गौकसो नवसुधारसनिर्वृताश्च ।
तौ दुर्लभौ कविवचः स्खलितस्य सोढा
मर्त्येषु सागरगरस्य च य. सुरेषु ।—उत्प्रेक्षावल्लभ
साध्वीव भारती भाति सूक्तिसद्‌व्रतचारिणी ।
ग्राम्यार्थवस्तुसंस्पर्शबहिरंगा महाकवेः ।—प्रभाकरनन्द
कवीनां महतां सूक्तैर्गूढान्तरसूचिभिः ।
विध्यमानश्रुतेर्मभूद्‌दुर्जनस्य कथं व्यथा ॥—अमृतदत्त
हेम्नो भारशतानि वा मदमुचा वृन्दानि वा दन्तिना
श्रीहर्षेण समर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राद्य यत् ।

सूक्ति वस्तुतः विलक्षण अर्थ बोध से युक्त हृदयहारी सुष्ठु-कथन है जिसमें रसनीय उदारता एवं मनोरमता विद्यमान रहती है। सूक्ति 'सुदुर्लभा सर्वमनोरमा गिरः' का उत्कृष्ट प्रतिमान है। सूक्ति में शब्द और अर्थ का प्रभावव्यञ्जक एवं चमत्कृत अन्तर्वेशन होता है। प्रतीयमान अर्थ योजना के लिये रसाद्यनुगत, विलक्षण एवं भाव-प्रवण शब्द चयन अपरिहार्य है क्योंकि विलक्षण शब्द-विन्यास से ही लोकातिक्रान्त एवं अलोक सामान्य अर्थ की सप्रतीति संभव है। कवि की मर्मस्पृक् एवं 'सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी' उक्ति ही सूक्ति है और यही सूक्ति काव्य का पर्याय है।[1]

इसी सूक्ति को दृष्टिपथ में रखकर काव्यशास्त्रियों ने काव्य के शोभाभिधायी धर्म अलंकारों की मीमांसा की तथा 'उक्तिवैचित्र्यमलंकार' एवं 'अभिधान प्रकार एव चालंकाराः' की उद्घोषणा की। काव्यालंकार के अधिकांश भेदों की अन्वीक्षा उक्ति निर्भर है—यथा स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, पर्यायोक्ति, विनोक्ति, सहोक्ति, अतिशयोक्ति तथा विशेषोक्ति आदि।

उक्ति (सूक्ति) निर्भर वाङ्गमय को महाकवि दण्डी ने स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति दो रूपों में व्यक्त किया है।[2] काव्यशास्त्र की निरर्थक परम्परा के प्रतिष्ठापक आचार्य भामह ने अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को काव्य कहा तथा शब्द और अर्थ की गाढ़ समन्विति को अपेक्षित बताया। उक्ति (वक्रोक्ति, बाँकी-उक्ति) को आगे चलकर कुन्तक ने काव्य जीवन घोषित कर दिया—वक्रोक्ति काव्य जीवितम्।

सूक्ति के उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि सूक्ति से ही काव्य के स्वरूप का विकास हुआ है, भले ही उसमें ध्वनि एवं रसादि की विवेचना अन्तर्हित है। समासतः सूक्ति के भाव एवं भाषा की कहानी ही समस्त वाङमय है।[3]

महाकवि अश्वघोष ने भी शब्द और अर्थ के अनुगुण निबन्धन में हृदयस्पृक् एवं विलक्षण सूक्तियों का समुचित अन्तर्वेशन किया है। उनकी सूक्तियों में

या बाणेन तु तस्य सूक्तिविसरैरुट्टंकिता कीर्तय-
स्ताकल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम् ॥

१ उक्तिविशेष काव्यम्—सरस्वती कण्ठाभरण (भोज)

२ श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् । (काव्यादर्श—दण्डी)

३ सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।

(काव्यालंकार—भामह)

जीवन और जगत् की, ज्ञान और भक्ति की, साहित्य और दर्शन की, कर्म और योग की, काम एव अध्यात्म की सत्य तथा शिव की मर्ममुखर वाणी साकार हो गयी है। उनकी सूक्तियों मे लोकव्यवहार और जीवन-दर्शन भी विद्यमान है।

सूक्तियों की उद्भावना म महाकवि अश्वघोष ने भाव-शबलत्व, अनुगुणत्व, प्रीतिमधुरसान्द्रत्व तथा साधक एव रसानुगत शब्द विन्यास का सुन्दर समीकरण प्रस्तुत किया है। कवि की रसनिर्भर सूक्तियो मे अप्रतिम वैदुष्य, विलक्षण पाण्डित्य, अपूर्व कला-प्रज्ञा विपुल शब्द-भाण्डार तथा अनवद्य कवित्व शक्ति की विलक्षणता तथा चिन्मय भाषा की सरसता प्राप्त होती है। नैसर्गिकता से अनुस्यूत अद्वितीय शब्द-ब ध मे जो श्रुतिमधुर सगीतात्मक झकृति प्राप्त होती है वह अर्थबोध से पूर्व ही हृदय को रसाप्लुत कर देती है। सरल, स्निग्ध एव परिस्फुट तथा चित्ताकर्षक सूक्तियो मे लालित्य की अनुपमता अतीव स्पृहणीय है। औपम्य, अर्थगांभीर्य तथा पदलालित्य के अपूर्व समन्वय मे महाकवि अश्वघोष की सूक्तिया उपदश सवलित होने पर भी हृद्य तथा ग्राह्य हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

अथ सज्जनहस्तस्थो धर्मकामौ महानिव — २।६०
नियतभविष्यति परत्र भवदपि च भूतमप्यथो।
कर्मफलमपि च लोकगतिर्नियतेति दर्शनमवाप साधु च। ३।३६
सर्वास्ववस्थास्विह वर्तमान
सर्वाभिसारेण निहन्ति मृत्यु । ५।२२
श्रद्धाधन श्रेष्ठतम धनेभ्य । ५।२४
हितस्य वक्ता प्रवर सुहृद्भ्यो
धर्माय खेदो गुणवान् श्रमेभ्यो। ५।२५
जरासमा नास्त्यमृजा प्रजाना
व्याधे समो नास्ति जगत्यनर्थ । ५।२५
स्रोतो न तृष्णासममस्ति हारि। ५।२८
वरं हितोदर्कमनिष्टमन्न
न स्वादु यत्स्यादहितानुबद्धम्। ५।४६
तावद्दृढ ब धनमस्ति लोके
न दारव तान्तवमायस वा।
यावद्दृढं बन्धनमेतदेव
मुख चलाक्ष ललित च वाक्यम्॥ ७।१४
गतयो विविधा हि चेतसाम्। ८।६

व्यसनान्ता हि भवन्ति योषित । ८।३१
प्रमदाना तु मनो न गृह्यते। ८।३६
प्रमदानामगतिर्न विद्यते । ८ ४४
तथा स्त्रीसंसर्गो बहुविधमनर्थाय भवति । ८।६१
सदा च सर्व च तुदन्ति धातव । ९।१३
जरासमो नास्ति शरीरिणा रिपुः । ९।३३
न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये
हवीषि दीप्तस्य विभावसोरिव । ९ ४३
न कामभोगैरवशान्तिमृच्छति । ९।४४
निषेव्यमाणा विषयाश्चलात्मनो
भवन्त्यनर्थाय तथा न भूतये । ९।४८
स्वयंप्रभा पुण्यकृतो रमन्ते । १०।३२
सर्वो महान् हेतुरणोर्वधाय । १०।४५
रूक्षमप्यायये शुद्धे रूक्षतो नैति सज्जनः । ११।१८
दुर्लभं तु प्रियहित स्वादु पथ्यमिवौषधम् । ११ १६
कामाना प्रार्थना दुःखा । ११।३८
रागोद्दामेन मनसा सर्वथा दुष्करा धृति । १२।२७
शीलमास्थाय वर्तन्ते सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः । १३।२०
शील हि शरण सौम्य कान्तार इव दैशिकः । १३।२८
विषयैरिन्द्रियग्रामो न तृप्तिमधिगच्छति ।
अजस्र पूर्यमाणोऽपि समुद्र. सलिलैरिव ॥ १३।४०
धारणाय शरीरस्य भोजनं हि विधीयते । १४।१५
सर्वापदां क्षेत्रमिद हि जन्म । १६।७
दु खाय सर्व न सुखाय जन्म । १६।९
कार्यः क्षयः कारणसक्षयाद्धि । १६।२५
शुचौ हि शीले पुरुषस्य दोषा
मनः सलज्जा इव धर्षयन्ति । १६।३४
नन्दीक्षयाच्च क्षयमेति राग. । १६।४४
योगोऽप्यकाले ह्यनुपायतश्च
भवत्यनर्थाय न तद्गुणाय । १६।४९
नाशो हि यत्नोऽप्यनुपायपूर्वः । १६।६७
न त्वेव हेयो गुणवान् प्रयोग । १६।७०

वीर्यं परं कार्यकृतौ हि मूले
वीर्याद्दृते काचन नास्ति सिद्धिः । १६।९४
नृणां निर्वीर्याणां भवति विनिपातश्च भवति । १६।९५
वीर्यं हि संवर्द्धयः । १६।९८
जितात्मनः प्रव्रजनं हि साधु
चलात्मनो न त्वजितेन्द्रियस्य । १८।३३
निन्द्यो हि निर्वीय इवात्तशस्त्रः । १८।२५
प्रज्ञामयं यस्य हि नास्ति चक्षुः
चक्षुर्न तस्यास्ति सचक्षुषोऽपि १८।३६
सुखं विरागत्वमसक्तबुद्धेः । १८।४२
रजः प्रकर्षेण जगत्यवस्थिते
कृतज्ञभावो हि कृतज्ञदुर्लभः । १८।५२

—०—

परिशिष्ट—३

वर्णानुक्रम ग्रन्थों, ग्रन्थकारों एवं पारिभाषिक शब्दों की सूची